॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४३

मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन

न्याय-वेदान्ताचार्य

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल

प्राध्यापक, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
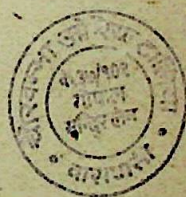
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०१८ वि०

मूल्य : ४-५०

Phone : 3076

प्राक्कथन

संस्कृत

संस्कृत विश्व की अति प्राचीन और अत्यन्त समृद्ध भाषा है। इसके दो रूप हैं एक वैदिक और दूसरा लौकिक। वैदिक संस्कृत सदा एक सी रहती है, उसमें किसी नूतन संस्कार वा परिष्कार को मान्यता नहीं दी जाती, वह शाश्वत और सनातन मानी जाती है, इसी लिये उसे अलौकिक, अमानवीय वा अपौरुषेय कहा जाता है। लौकिक संस्कृत मनुष्यों के बोल-चाल की भाषा है। इसमें समय समय पर आवश्यक संस्कार और परिष्कार होते रहते हैं। शब्दों के त्याग और संग्रह से इसका कलेवर परिवर्तित होता रहता है। इसमें वेदों के पुरातन ज्ञान-विज्ञान की अवतारणा के साथ जगत् के नवीन ज्ञान-विज्ञान का भी सन्निवेश हुआ करता है। इसी कारण इसे लौकिक, व्यावहारिक वा मानवीय भाषा कहा जाता है। चिर अतीत काल में यह भारतवर्ष की सार्वजनिक भाषा रह चुकी है, राजभाषा तो यह निकट भूत तक रही। निर्माण और पाचन की अपूर्व क्षमता के कारण आज भी अतीत काल के अपने गौरवपूर्ण पद पर पुनः प्रतिष्ठित होने की अर्हता इसमें विद्यमान है।

पुराण

लौकिक संस्कृत के विविध साहित्यों में पुराण का स्थान सर्वोपरि है। पद्म-पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराण का स्मरण किया। पुराण सम्पूर्ण लोकों में श्रेष्ठ तथा समग्र ज्ञान का प्रदाता है। जैसे—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोपपादकम्॥ (अ० १)

मत्स्य पुराण में पुराणों को वेदों से पूर्ववर्ती बताया गया है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ (५३-१)

अथर्ववेद में कहा गया है कि उच्छिष्ट-ब्रह्म से वेदों के साथ पुराणों का आविर्भाव हुआ—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

(११।७।२४)

बृहदारण्यक उपनिषद् में वेदों के समान पुराणों को भी भगवान् का निःश्वास कहा गया है—

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः ।
सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः ॥
(२।४।१०)

ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि चारो वेद, सभी वेदाङ्ग तथा समग्र उपनिषदों का ज्ञान होते हुये भी पुराणों का ज्ञान जिस मनुष्य को नहीं होगा वह विद्वान् नहीं हो सकता—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥ (अ० १)

पुराणों के भेद

पुराणों के मुख्यतया दो भेद हैं—महत्—महापुराण और क्षुल्लक—लघु वा उपपुराण—

एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः ।
मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च ॥
(भाग० स्क० १२ अ० ७)

महापुराण के प्रतिपाद्य विषय दश हैं—सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय—

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥
(भा० स्क० १२ अ० ७)

सर्ग—भौतिक सृष्टि, विसर्ग—चर, अचर रूप चेतनसृष्टि, वृत्ति—जीविका, रक्षा—ईश्वर का लोकरक्षार्थ अवतारचरित, अन्तर—मन्वन्तर, वंश—प्रसिद्ध राजपरिवार, वंशानुचरित—प्रसिद्ध राजकुलों का इतिहास, संस्था—प्रलय, हेतु—जीव, अपाश्रय—ब्रह्म ।

सर्ग आदि का उक्त अर्थ श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के सातवें अध्याय में किया गया है—

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥ ११ ॥
पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम् ॥ १२ ॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।

कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ॥ १३ ॥
रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे ।
तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥ १४ ॥
मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः ।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥ १५ ॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।
वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥ १६ ॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः ॥ १७ ॥
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ १८ ॥
व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ १९ ॥

भागवत का प्रतिपाद्य विषय बताने के प्रसंग में ये ही विषय भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दशवें अध्याय में कुछ प्रकारान्तर से कहे गये हैं—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः ।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥ ४ ॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
सतामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥
निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥ ६ ॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥ ७ ॥

इन्हीं विषयों का ब्रह्मवैवर्त पुराण के १३१वें अध्याय में थोड़े भिन्न प्रकार से उल्लेख है—

सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्चेत् स्थितिस्तेषां च पालनम् ।
कर्मणां वासना वार्ता चामूनां च क्रमेण च ॥
वर्णनं प्रलयानां च मोक्षस्य च निरूपणम् ।
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानां च पृथक् पृथक् ॥

इन दश विषयों का पाँच विषयों में समावेश करके कहीं-कहीं पुराणों के पाँच ही विषय बताये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र ! पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥
(ब्र० वै० अ० १३१)

कुछ लोगों के मतानुसार सर्ग, विसर्ग, वृत्ति आदि दश विषय महापुराणों के प्रतिपाद्य हैं और सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पाँच विषय लघु वा उपपुराणों के प्रतिपाद्य हैं। इस बात का संकेत ब्रह्मवैवर्त के १३१वें अध्याय में किया गया है।

महापुराण

महापुराणों की संख्या अठारह है, ब्रह्म, पद्म, शिव, विष्णु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड। वामनपुराण के एक श्लोक में इनका संकेत आद्य अक्षर द्वारा किया गया है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापलिङ्गकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥

मद्वयं—मत्स्य और मार्कण्डेय। भद्वयं—भविष्य और भागवत। ब्रत्रयं—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्त। वचतुष्टयम्—वराह, वायु, वामन और विष्णु। अ—अग्नि, ना—नारद, प—पद्म, लिङ्—लिङ्ग, ग—गरुड, कू—कूर्म, स्क—स्कन्द।

लघुपुराण

लघुपुराण के तीन भेद हैं—उपपुराण, अतिपुराण, और पुराण।

उपपुराण अठारह हैं—भागवत, माहेश्वर, ब्रह्माण्ड, आदित्य, पराशर, सौर, नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण, औशनस्, मानव, कापिल, दुर्वासस्, शिवधर्म, बृहन्नारदीय, नारसिंह और सनत्कुमार।

अतिपुराण भी अठारह हैं—कार्तव, ऋजु, आदि, मुद्गल, पशुपति, गणेश, सौर, परानन्द, बृहद्धर्म, महाभागवत, देवी, कल्कि, भार्गव, वसिष्ठ, कौर्म, गर्ग, चण्डी और लक्ष्मी।

पुराण भी अठारह हैं—बृहद्विष्णु, शिव उत्तर खण्ड, लघुबृहन्नारदीय, मार्कण्डेय, वह्नि, भविष्योत्तर, वराह, स्कन्द, वामन, बृहद्वामन, बृहन्मत्स्य, स्वल्पमत्स्य, लघुवैवर्त और पञ्चविध भविष्य।

पुराणों का गुणकृत भेद

समस्त पुराण तीन वर्गों में विभक्त हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक पुराणों में विष्णु का, राजस पुराणों में ब्रह्मा का और तामस पुराणों

में अग्नि और शिव का माहात्म्य वर्णित होता है। सरस्वती एवं पितरों का माहात्म्य तो समग्र पुराणों में वर्णित होता है—

> सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
> राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
> तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च।
> समग्रेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते॥ (ब्र० पुराण)

पुराण १८ क्यों हैं

पुराण में मुख्य रूप से पुराणपुरुष—आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा स्वरूपतः एक होते हुये भी उपाधि, अवस्था वा आयतन-भेद से १८ प्रकार का होता है। इन अठारहों प्रकार का प्रतिपादन करने के कारण पुराणों की संख्या १८ मानी गयी है। आत्मा के १८ प्रकार निम्नांकित रूप से समझने चाहिये।

मूलभूत आत्मा—ब्रह्म और उससे प्रादुर्भूत होने वाले देव तथा भूत इन तीन अवस्थाओं के कारण आत्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं, क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा तथा भूतात्मा। इन भेदों का उल्लेख मनुस्मृति में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

> योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
> यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥
> जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।
> येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥
> (मनु० अ० १२)

प्रेरक विशुद्ध आत्मा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, कर्मों को करनेवाला आत्मा भूतात्मा कहा जाता है और विभिन्न जन्मों में सुख तथा दुःख का भोग करने वाला आत्मा जीव वा अन्तरात्मा कहा जाता है।

क्षेत्रज्ञ आत्मा के चार भेद होते हैं—परात्पर, अव्यय, अक्षर तथा क्षर। परात्पर समस्त विश्व का अधिष्ठान, भूमा एवं विश्वातीत होता है। अव्यय सृष्टि का आधार होता है। अक्षर सृष्टि का निमित्त कारण होता है और क्षर सृष्टि का परिणामी उपादान कारण होता है। क्षर, अक्षर तथा अव्यय का प्रतिपादन भगवद्गीता में इस प्रकार किया गया है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(अ० १५ श्लो० १६, १७)

समस्त भूत ही चर हैं, कूटस्थ पुरुष अक्षर है और लोकत्रय का धारक श्रेष्ठ पुरुष परमात्मा ईश्वर अव्यय है।

अन्तरात्मा के पाँच भेद होते हैं—अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा। अव्यक्तात्मा वह है जिससे शरीर का जीवित रूप में रहना सम्भव होता है। महानात्मा वह है जिससे सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुण की प्रवृत्ति होती है। विज्ञानात्मा वह है जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का प्रवर्तक होता है। प्रज्ञानात्मा वह है जिससे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को प्रेरणा मिलती है, तथा प्राणात्मा वह है जिससे शरीर में सक्रियता उत्पन्न होती है।

कठोपनिषद् में अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रिय शब्दों से इनका निर्देश करके इनकी एक दूसरे से श्रेष्ठता बताते हुये इन सबों से पुरुष—परात्पर को श्रेष्ठ कहा गया है। जैसे—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

भूतात्मा के नव भेद होते हैं जिन्हें इस प्रकार समझना चाहिये—भूतात्मा के प्रथमतः तीन भेद होते हैं—शरीरात्मा, हंसात्मा और दिव्यात्मा।

शरीरात्मा

मनुष्य आदि ससंज्ञ प्राणियों का शरीर ही शरीरात्मा कहा जाता है।

हंसात्मा

पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच विचरण करने वाला वायु हंसात्मा कहा जाता है, यह सदैव जागृत रहता है और सोते हुये शरीरात्मा की रक्षा करता है। इसका निर्देश श्रुति में इस प्रकार किया गया है।

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः ॥
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा ।
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः ॥

दिव्यात्मा

इसके प्रथमतः तीन भेद होते हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। पाषाण आदि असंज्ञ प्राणी वैश्वानर की श्रेणी में गिने जाते हैं, वृक्ष आदि अन्तःसंज्ञ प्राणी तैजसवर्ग में माने जाते हैं। मनुष्य आदि व्यक्तसंज्ञ प्राणी प्राज्ञ माने जाते हैं। प्राज्ञ के मुख्यतया तीन भेद होते हैं—कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा।

कर्मात्मा

कर्म के विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता। किसी भी प्राणी का कर्मशून्य होकर एक क्षण भी रहना असम्भव है, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

शतपथ श्रुति के अनुसार कर्म के अभाव में प्राण अपूर्ण रहते हैं, यथा—

अकृत्स्ना उ वै प्राणा ऋते कर्मणः, तस्मात्कर्माभिमसृजत।

कर्म स्वरूपतः आशु विनाशी होते हैं किन्तु वे अपने संस्कार छोड़ जाते हैं। इन संस्कारों को पुण्य और पाप अथवा धर्म और अधर्म शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। ये संस्कार जिसमें समवेत होते हैं उसे कर्मात्मा कहा जाता है, उसी की प्रसिद्ध संज्ञा जीव है और वह ईश्वर के अधीन रहता है।

चिदाभास

ईश्वरचैतन्य का जो भाग मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो हृदय स्थित विज्ञानात्मा से सम्पृक्त होता हुआ शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के धर्मों से संसृष्ट होता है उसे चिदाभास कहा जाता है, वह प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न होता है।

चिदात्मा

ईश्वर का वह भाग जो समस्त विश्व में भी व्याप्त रहता है और साथ ही शरीर में भी व्याप्त रहता है किन्तु व्याप्तिस्थान के धर्मों से सम्पृक्त नहीं होता वह चिदात्मा कहा जाता है। वह ईश्वर, परपुरुष आदि शब्दों से भी व्यवहृत होता है।

चिदात्मा के तीन भेद होते हैं—विभूतिलक्षण, श्रीलक्षण और ऊर्क् लक्षण। इनका निर्देश गीता में इस प्रकार किया गया है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(अ० १० श्लो० ४१)

विभूति, श्री और ऊर्क् से सम्पन्न सत्त्व चिदात्मा ईश्वर का तेजोमय अंश होता है।

पुराणों का विषयमूलक विभाग

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से संक्षेप से सूचित आत्मा के अठारह स्वरूपों का प्रतिपादक होने से ही पुराणों की संख्या अठारह है। विवेच्य विषय की दृष्टि से इनके चार विभाग होते हैं। प्रथम विभाग में ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु और नारद ये छः पुराण समाविष्ट हैं। इन पुराणों में आधिदैविक सृष्टि का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि सृष्टि की रचना ब्रह्मा से हुई है। ब्रह्मा की उत्पत्ति पद्म से हुई है। पद्म विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ है, विष्णु वायुमय शेष पर स्थित है, शेष समुद्र में स्थित है और समुद्र नारद—जलोत्पादक तत्त्व से उद्भूत है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ है अग्नितत्त्व, पद्म का अर्थ है पृथ्वीपिण्ड, विष्णुनाभि का अर्थ है सूर्य, शेष का अर्थ है विश्वव्यापी वायु, वायु का अर्थ है अप्समूह जिसे सरस्वान् भी कहा जाता है। वह अप्समूहरूप समुद्र जिस अप्तत्त्व से पैदा होता है वही नारद कहा जाता है।

द्वितीय विभाग में मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य और ब्रह्मवैवर्त ये चार पुराण सन्निविष्ट हैं। इन पुराणों में आध्यात्मिक सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। मार्कण्डेय पुराण में प्रकृति को, अग्नि पुराण में सूर्य को, और ब्रह्मवैवर्त में ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बताया गया है।

तृतीय विभाग में लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म और मत्स्य इन छः पुराणों का समावेश होता है। इनमें सृष्टि के अवान्तर कारणों का प्रतिपादन किया गया है। लिङ्ग पुराण के अनुसार सृष्टि का एक कारण लिङ्ग है, 'लयं गच्छति अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार लिङ्ग का अर्थ वह अक्षरतत्त्व है जिसमें प्रलयदशा में विश्व का लय होता है। वराह पुराण के अनुसार सृष्टि का एक कारण वराह है, वराह का तात्पर्य उस वायु से है जो अक्षरलिङ्ग से उत्पन्न होने वाले क्षरसमूह को वेष्टित कर उन्हें पिण्ड का रूप प्रदान करता है। स्कन्द पुराण के अनुसार सृष्टि का एक कारण स्कन्द है। स्कन्द से वह अग्नि अभिप्रेत है जो पृथ्वी आदि क्षरपिण्डों को बाँधे रहता है जिसके कारण वे असमय में विशीर्ण नहीं होने पाते। वामन पुराण के अनुसार सृष्टि का एक कारण वामन है, इस कारण के द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का परस्पर समन्वय स्थापित होता है। कूर्म पुराण के अनुसार सृष्टि का एक कारण कूर्म है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीनों लोकों को जीवित रखने वाले महाप्राण का नाम कूर्म है। उसे कश्यप भी कहा जाता है और उसी के कारण समस्त प्रजा काश्यपी कही जाती है। मत्स्य पुराण

के अनुसार सृष्टि का एक कारण मत्स्य है। यह मत्स्य भी एक प्रकार का प्राण है जो विश्व के मध्य में केन्द्रित हो एक ओर विषुवद् वृत्त से उत्तर ध्रुव तक तथा दूसरी ओर विषुवद् वृत्त से दक्षिण ध्रुव तक परिभ्रमण करता हुआ सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति का निदान होता है।

चतुर्थ विभाग में गरुड और ब्रह्माण्ड इन दो पुराणों का समावेश है, गरुड पुराण में सृष्टि विरोधी प्रतिसृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, प्रति सृष्टि के कई अर्थ हैं। जैसे सृष्टि क्रम के प्रतिकूल विनाश क्रम, जन्मक्रम के विरुद्ध निर्वाणक्रम तथा बहुभवन के विरुद्ध आत्मा का पुनः एकीभवन। प्रतिसृष्टि के इन सभी प्रकारों का वर्णन इस पुराण में किया गया है। गरुड को वेदों में सुपर्ण कहा गया है। 'सुष्ठु पतति विभिन्नेषु लोकेषु गच्छति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मात्मा जीव ही सुपर्ण है, कर्मानुसार नाना लोकों में उसकी विभिन्न गतियों का निरूपण भी इस पुराण में किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में उस आधारभूत पदार्थ का, जिसमें विश्व की सृष्टि और प्रतिसृष्टि का चक्र चलता है, निरूपण किया गया है। उस पदार्थ का नाम ब्रह्माण्ड है। वही इस पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार अठारहों पुराणों में सृष्टि, प्रतिसृष्टि आदि के द्वारा उस पुराण पुरुष परमात्मा का साकल्येन वर्णन किया गया है जो सारी सृष्टि के जन्म, जीवन और संहार का केन्द्र-विन्दु है और जिसमें अपने आपको विलीन कर देना ही मनुष्य जीवन की अन्तिम सफलता है।

पुराणों की रचना कब और कैसे हुई?

पुराण-विद्या वेद-विद्या के समान अनादि है और पौराणिक वाङ्मय वैदिक वाङ्मय के समान सर्व-प्रथम ब्रह्मा से ही प्रादुर्भूत हुआ है। अन्तर केवल यह है कि वैदिक वाङ्मय की प्रथम उपलब्धि जिस रूप में हुई, बाद में भी उस रूप की ज्यों की त्यों रक्षा की गई। उसकी पदावली में किसी प्रकार के परिवर्तन को अग्राह्य माना गया, वह जिस रूप में पहली बार सुना गया उसी रूप में बाद में भी बराबर कहा सुना जाता रहा। इसी लिये उसका दूसरा नाम अनुश्रव अथवा श्रुति पड़ा, पर पौराणिक वाङ्मय के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, पुराणों की रक्षा शब्दों में नहीं अपितु अर्थों में की गई, उनकी भाषा बदलती रही पर अर्थ वही रहा। ब्रह्मा के मुख से निकली पुराणवाणी का जो अर्थ था वही आज की पुराण-भाषा में भी निहित है। इस प्रकार वेद जो कुछ उपलब्ध हैं अपने आदिम शब्द और अर्थ दोनों रूपों में ज्यों के त्यों आज भी सुरक्षित हैं, पर पुराण केवल अपने मौलिक अर्थों में ही सुरक्षित हैं। पुराणों के विषय में इस सम्भावना

के लिये पर्याप्त स्थान है कि उनमें नूतन भाषा के साथ नूतन अर्थ का भी समावेश हुआ है और इसी लिये पुराणों के बारे में पाश्चात्य विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते।

पुराणकर्ता

व्यास ने वेदों का विषयानुसार उनकी मौलिक आनुपूर्वी में ही ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चार भागों में वर्गीकरण किया। पर पुराणों के शाब्दिक ढाँचे को उसी रूप में सुरक्षित रखना अनावश्यक समझ उसके अर्थ-भाग को लेकर अपने शब्दों में उन्होंने अठारह प्रकरणों की एक पुराण-संहिता की रचना की। लोमहर्षण ने इस पुराण-संहिता का अध्ययन कर और स्पष्टतर भाषा में एक नवीन पुराण-संहिता का निर्माण किया और उसमें मन्वन्तर, सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश तथा वंशानुचरित इन पाँच विषयों का विशद सन्निवेश किया। लोमहर्षण ने अपनी पुराण-संहिता का अध्ययन त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, शांशपायन और हारीत इन छः शिष्यों को कराया। इनमें शांशपायन, सावर्णि और कश्यप ने एक एक नूतन पुराण-संहिता का प्रणयन किया। शांशपायन की पुराण-संहिता में आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि ये चार नये विषय सन्निविष्ट हुये। सावर्णि की पुराण-संहिता में दर्शन, कला, आगम तथा नीति का नया सन्निवेश हुआ। कश्यप की पुराण-संहिता में वेदोपबृंहण, पुराणावतरण आदि नवीन विषयों का समावेश हुआ। लोमहर्षण, शांशपायन, सावर्णि और कश्यप की ये चार पुराण-संहितायें ही सूत-शौनक के संवाद रूप में प्राप्त होने वाले अठारह पुराणों की आधार शिला हैं और वे चारों पुराण-संहितायें व्यास की मूलभूत पुराण-संहिता के आधार पर रचित हुई हैं। इस प्रकार व्यास की पुराण-संहिता के आधार पर रचित होने के कारण समस्त पुराण व्यास-रचित माने जाते हैं। सूत-शौनक के संवाद रूप में रचे गये अठारह पुराण, जिनमें आदि के आठ लोमहर्षण और अन्त के दश उनके पुत्र उग्रश्रवा से रचित हैं, इतने सुबोध और लोकप्रिय हुये कि इनके समक्ष इनकी मूलभूत पुराण-संहिताओं का प्रचलन समाप्त हो गया।

पुराणों की उपादेयता

पुराण भारतीय संस्कृति के भाण्डागार हैं, इनमें भारत की सत्य और शाश्वत आत्मा निहित है, इन्हें पढ़े विना भारत का यथार्थ चित्र सामने नहीं आ सकता, भारतीय जीवन का दृष्टि-कोण स्पष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के गन्तव्य और पाथेय का परिज्ञान नहीं हो सकता। इनमें आध्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक सभी विद्याओं का विशद वर्णन है। लोक जीवन के सभी पक्ष इनमें अच्छे प्रकार प्रतिपादित हैं। संसार में ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान नहीं, मानव मस्तिष्क की ऐसी कोई कल्पना वा योजना नहीं, मनुष्यजीवन का ऐसा कोई अङ्ग नहीं जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो। जिन विषयों को अन्य माध्यमों से समझने में बहुत कठिनाई होती है वे बड़े रोचक ढङ्ग से सरल भाषा में आख्यान आदि के रूप में इनमें वर्णित हुए हैं। अतः भारत को पूर्ण रूप से समझने के लिये और उसकी अपनी विशेषताओं के साथ विश्व के अन्ताराष्ट्रिय मञ्च पर खड़ा करने के लिये पुराणों का अनुशीलन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। पुराणों की इस असाधारण महत्ता और उपादेयता के कारण ही काशीनरेश महाराज श्रीविभूतिनारायण सिंह ने अपनी राजधानी में एक 'पुराण अनुसन्धान संस्थान' की स्थापना और पुराणों के प्रवचन की व्यवस्था की है। पुराणों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना तथा उनके प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करना इस संस्थान का लक्ष्य है। संस्थान की ओर से 'पुराणम्' नाम की एक षाण्मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है जिसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन पद्धति के विशिष्ट विद्वानों के महत्त्वपूर्ण लेख छपते हैं। 'मार्कण्डेय पुराण—एक अध्ययन' नाम की यह लघु पुस्तक काशीनरेश की ही प्रेरणा से लिखी गयी है, और उनके सम्मुख इस पुराण के सम्बन्ध में जो मेरे प्रवचन हुये थे उन्हीं पर यह आधारित है। इसमें प्रारम्भ में कतिपय विषयों के विवेचनार्थ कुछ लेख दिये गये हैं, बाद में अध्यायानुसार पूरे पुराण का परिचय दिया गया है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय के शिक्षाप्रद वचनों का संकलन किया गया है।

इस पुस्तक का प्रकाशन वाराणसी की उस सुप्रसिद्ध **चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस** की प्रधान शाखा की ओर से हो रहा है जिसने संस्कृत वाङ्मय की अपनी त्याग-प्रधान अनुपम सेवा के बल संस्कृत-प्रेमियों के हृदय में अपना सम्मान-पूर्ण स्थायी स्थान बना लिया है। इस पुस्तक से पुराणों के अध्ययन में जनता की रुचि यदि कुछ भी जागृत हो सकी तो प्रेरक, लेखक और प्रकाशक को हार्दिक प्रसन्नता होगी।

जन्माष्टमी
वि० सं० २०१८

बदरीनाथ शुक्ल

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन

पुराण

पुराण वह विद्या है जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों की चरितावली का वर्णन हो—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ (वि० पु०)

पुराण के भेद

पुराण के प्रमुख भेद अठारह हैं—

ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, नृसिंह, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड ।

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ॥
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं नृसिंहैकादशं तथा ॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दमत्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनकं कौर्मं पञ्चदशं तथा ॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ।
(मा० पु० अ० १३७)

पुराण का समय

पुराण के स्वरूप, भेद, प्रतिपाद्य विषय तथा उसके ज्ञान के प्रयोजन आदि की जानकारी जैसे हम पुराण से ही करते हैं, उसी प्रकार उसके समय का निश्चय भी उसी के आधार पर करना उचित है और विशेषतः उस स्थिति में जब कि पुराण के समय का निर्देश उनमें स्पष्ट रूप से किया गया है। इस यथार्थ और न्याय्य दृष्टिकोण से जब हम पुराण के समय का विचार करते हैं तो यही निष्कर्ष

निकलता है कि पुराणविद्या वेदविद्या की भाँति अनादि है। काल-परीक्षण की आधुनिक ऐतिहासिक शैली से पुराण का काल-निर्णय करना न तो सम्भव है और न न्यायसंगत ही; क्योंकि पुराण का स्पष्ट कथन है—

उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः।
पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृताः॥
(मा० पु० अ० ४५)

अव्यक्तजन्म ब्रह्मा के उत्पन्न होते ही उनके मुखों से पुराण एवं वेदों का उद्गम हुआ।

पुराण का प्रतिपाद्य

जो तत्त्व वेद का प्रतिपाद्य है वही पुराण का भी प्रतिपाद्य है। वेद का प्रतिपाद्य पुराणपुरुष-परमेश्वर-सच्चिदानन्द अखण्ड ब्रह्म है; अतः पुराण का भी प्रतिपाद्य वही है। पुराणरूप प्रतिपाद्य तत्त्व की दृष्टि से ही इस विद्या का नाम पुराण है। 'पुरा अनिति' अथवा 'पुरा भवम्' इस शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार पुराण शब्द का अर्थ होता है—सबसे पहले रहनेवाला। जब सृष्टि नहीं थी, सृष्टि का कोई चिन्ह नहीं था, उस समय भी जो विद्यमान था उसी का नाम पुराण है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुराण शब्द से जिसका व्यपदेश किया जा सकता है वह तत्त्व क्या है? इस बात का विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि वह तत्त्व एकमात्र सच्चिदानन्द अखण्ड ब्रह्म ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं, क्योंकि स्वयं अजन्मा और दूसरे को जन्म देने की अनन्त शक्ति से सम्पन्न होने के कारण वही सारी सृष्टि का पूर्ववर्ती तथा उसका उद्गमस्थल हो सकता है। छान्दोग्य श्रुति भी यहीं कहती है—

"सदेव सोम्य! इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्...
तदैक्षत, एकोऽहं वहु स्यां प्रजायेय"

ब्रह्म को पुराण का प्रतिपाद्य मानने पर यह प्रश्न उठ सकता है कि पुराण के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार सृष्टि, प्रलय आदि पाँच बातें ही पुराण के प्रतिपाद्य हैं तो फिर पुराण का प्रतिपाद्य ब्रह्म कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि परब्रह्म का साक्षात् निर्देश किसी शब्द से हो नहीं सकता, उसका परिचय उसके कार्यों द्वारा ही किया जा सकता है। तटस्थ लक्षणों द्वारा ही उस तक पहुँचा जा सकता है। उपनिषद् भी तटस्थ लक्षण का ही विशेषरूपेण अवलम्बन करती है—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै० ३।१)

पाराशर व्यासदेव का ब्रह्मसूत्र भी इसी का निर्देश करता है—

"जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १ अ० १ पा० २ सू०)

इस सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीशङ्कराचार्य ने कहा है—

"अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्म"

यह जगत् जो विभिन्न नाम और रूपों द्वारा विस्पष्टरूप से विभाजित है, जो अनेक कर्त्ता एवं भोक्ता जीवों से भरा है, जिसमें देश, काल, निमित्त, क्रिया और फल की नियत व्यवस्था है, जिसकी रचना के प्रकार का चिन्तन भी कर सकना सम्भव नहीं है उसकी रचना, उसका पालन और उसका प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति कारण से होता है वह ब्रह्म है। इस प्रकार उसके कार्य ही एकमात्र उसके परिचय के उपाय हैं, अतः पुराण भी परब्रह्म परमेश्वर के प्रतिपादन का उपक्रम करता हुआ सृष्टि, प्रलय, आदि उसके कार्यों का ही विवरण प्रस्तुत करता है। कहने का तात्पर्य यह कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के वर्णनों द्वारा पुराण इन सब असाधारण समारम्भों के शाश्वत सूत्रधार पुराणपुरुष परमात्मा का ही प्रतिपादन करता है।

मार्कण्डेय पुराण

प्रसिद्ध अठारह पुराणों में मार्कण्डेय पुराण सातवाँ पुराण है। इसमें चार पक्षियों द्वारा व्यास-शिष्य जैमिनि के प्रति मार्कण्डेय ऋषि की उस विद्या का वर्णन है जिसे उन्होंने पितामह ब्रह्मा जी से प्राप्त किया था। इस पुराण में वर्णित कथाओं के मूल वक्ता मार्कण्डेय ऋषि हैं। इस प्रकार यह पुराण मार्कण्डेय-मूलक है और इसीलिये इसका नाम मार्कण्डेय पुराण है।

मार्कण्डेय ऋषि

ये कुमारसर्ग—रुद्रसर्ग के जीव हैं। भृगु के पौत्र मृकण्डु की पत्नी मनस्विनी से इनका जन्म हुआ था। प्रारम्भ में इनकी आयु बहुत अल्प थी पर श्रीमहादेव जी की आराधना कर इन्होंने अपनी आयु की अवधि बढ़ा ली। फिर तो ये सप्तकल्पान्तजीवी हो गये। इनकी प्रज्ञा का विकास उस स्तर तक हुआ था जिसमें मानव के समस्त संशय मिट जाते हैं, मोह का पर्दा हट जाता है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के विषय हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा जब मृत्युञ्जय-परमार्थज्ञानरूप महादेव के अनुग्रह से चित्-अचित् की अनादि ग्रन्थि का भेदन हो जीवभाव की समग्र अशक्तियाँ समाप्त हो जाती

हैं। अर्थात् जब जीव पूर्णप्रज्ञ एवं पूर्ण जीवन्मुक्त हो परा शक्ति और पर पुरुष के निरूपण की नैपुणी प्राप्त कर लेता है। प्रज्ञा के इस उच्चस्तरीय विकास के कारण ही इनका यह पुराण संक्षिप्त होते हुये भी पूर्ण और अतीव विशद है।

मार्कण्डेय पुराण की महिमा

मार्कण्डेय पुराण का आरम्भ चार प्रश्नों से हुआ है जिन्हें आगे कहा जायगा। इस पुराण के श्रवण से सैकड़ों करोड़ कल्पों के पाप नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्महत्या आदि पाप तथा अन्य भी अशुभ कर्म इसके श्रवण से ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे वायु के लगने से रुई, इसके श्रवण से पुष्करतीर्थ में स्नान करने का पुण्य होता है। वन्ध्या अथवा जिसके बच्चे मर जाया करते हों ऐसी स्त्री यदि ठीक तौर से इस पुराण को सुनती है तो वह निश्चय ही सब शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र प्राप्त करती है, धन-धान्य तथा अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त करती है। मद्यप और उग्रकर्मा मनुष्य इस पूरे पुराण को सुनकर समस्त पापों से मुक्त हो स्वर्गलोक में पूजित होता है। इस पुराण का श्रवण करनेवाला मनुष्य आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन, धान्य, पुत्र एवं वंश प्राप्त करता है। यही बात अगले श्लोकों में वर्णित है—

चतुःप्रश्नसमोपेतं पुराणं मार्कण्डसंज्ञकम्।
श्रुतेन नश्यते पापं कल्पकोटिशतैः कृतम्॥

ब्रह्महत्यादिपापानि तथान्यान्यशुभानि च।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति तूलं वाताहतं यथा॥

पुष्करस्नानजं पुण्यं श्रवणादस्य जायते।
वन्ध्या वा मृतवत्सा वा शृणोति यदि तत्त्वतः॥

साऽपि वै लभते पुत्रं सर्वलक्षणसंयुतम्।
धनधान्यमवाप्नोति स्वर्गलोकं तथाऽक्षयम्॥

सुरापश्चोग्रकर्मा च श्रुत्वैतत्सकलं नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स्वर्गलोके महीयते॥

आयुरारोग्यमैश्वर्यं धनधान्यसुतादिकम्।
वंशं चैव व्यवच्छेदी प्राप्नोति द्विजसत्तम !॥

(मा० पु० १३७ अ०)

उपक्रम

व्यास के शिष्य जैमिनि ने मार्कण्डेय जी से चार प्रश्नों के उत्तर पूछे थे। उन्हीं प्रश्नों से इस पुराण का आरम्भ हुआ है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं—

१. निर्गुण भगवान् का जन्मग्रहण कैसे सम्भव हुआ ?

२. द्रौपदी पाँच पुरुषों की पत्नी कैसे हुई ?

३. बलदेव जी को तीर्थयात्रा के व्याज से ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त क्यों करना पड़ा ?

४. द्रौपदी के पुत्र अविवाहित अवस्था में ही क्यों मार डाले गये ?

मार्कण्डेय जी ने समयाभाव से स्वयं इन प्रश्नों के उत्तर न देकर तदर्थ जैमिनि को विन्ध्याचल पर रहनेवाले पिङ्गाक्ष, विबोध, सुमुख और सुपुत्र नाम के चार पक्षियों के पास भेज दिया। ये पक्षी उच्च कोटि के तत्त्वज्ञानी थे तथा मनुष्य की भाषा बोलने में प्रवीण थे, ये विपुलस्वान् मुनि के पौत्र थे, इनके पिता सुकृष ने पक्षी के रूप में आये इन्द्र का उनकी इच्छा के अनुसार नरमांस द्वारा आतिथ्य करने के लिये इन्हें देहत्याग करने की आज्ञा दी। जब इन लोगों ने प्राणरक्षा के लोभ से उनकी आज्ञा का पालन करने में असमर्थता प्रकट की तब उन्होंने कुपित हो इन लोगों को पक्षी की योनि में पैदा होने का शाप दे दिया। उसके अनुसार ये द्रोण की पत्नी तार्क्षी के गर्भ में आये। गर्भाधान से साढ़े तीन महीने बाद तार्क्षी कुरुक्षेत्र गई। दैववश वहाँ महाभारत के युद्ध के बीच उसे जाना पड़ा और अचानक एक भाले के आघात से उसका पेट फट गया। पेट फटते ही चार अण्डे भूमि पर गिर पड़े। संयोगवश ठीक उसी समय एक हाथी का घण्टा टूट कर इन अण्डों के ऊपर गिर पड़ा। उसी के नीचे ये अण्डे सुरक्षित पड़े रहे। एक दिन उधर से जाते हुये शमीक ऋषि ने घण्टे के नीचे से पक्षियों के बच्चों के जैसे कुछ शब्द सुने। कौतुकवश उन्होंने घण्टा उठा दिया। उसके नीचे से उन चार पक्षिशावकों को अपने आश्रम पर ले जा बड़े स्नेह से उन्हें पाला पोसा। जब वे सयाने हुये तब ऋषि की अनुमति से विन्ध्याचल जा वहीं रहकर तत्त्वानुचिन्तन करने लगे।

मार्कण्डेय जी के आदेश से जैमिनि ने इन पक्षियों के निकट जाकर अपने उक्त चार प्रश्नों के उत्तर पूछे। पक्षियों ने जैमिनि का सत्कार कर उनके प्रश्नों के उत्तर क्रमशः इस प्रकार दिये।

पहले प्रश्न का उत्तर—

परमात्मा की मुख्य दो मूर्तियाँ हैं, एक निर्गुण और दूसरी सगुण। निर्गुण मूर्ति एक, अद्वितीय, सर्वव्यापक, शुभ्र, ज्योतिर्मय, सदा एकरूप तथा सनातन है। सगुण मूर्ति गुण की त्रिविधता के कारण तीन प्रकार की है। एक तमोगुण-प्रधाना जो पृथ्वी को धारण करती है तथा 'शेष' नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी सत्त्वगुणप्रधाना जो जगत् की रक्षा एवं धर्म की व्यवस्था करती है तथा हरि वा विष्णु नाम से प्रसिद्ध है। तीसरी रजोगुणप्रधाना जो जगत् की सृष्टि करती

तथा जल के बीच सर्पशय्या पर शयन करती है, जिसका नाम नारायण है। इस प्रकार परमात्मा की मूर्ति चतुर्व्यूहात्मक है। इनमें प्रजा का पालन करने वाली जो सत्त्वप्रधाना मूर्ति है वही समाज की सुव्यवस्था के हेतु धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करने के निमित्त समय-समय पर मनुष्य-शरीर में अवतीर्ण होती है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा परमार्थ दृष्टि से स्वभावतः निर्गुण होते हुये भी अनादि काल से गुणों से सम्पन्न हैं। इस गुण-सम्पर्क के कारण ही उनका अवतार लेना सम्भव होता है। यह बात इस पुराण के चौथे अध्याय में बड़ी स्पष्टता से वर्णित है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर—

जब इन्द्र ने प्रजापति त्वष्टा के ब्राह्मण पुत्र को मार डाला तब उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगा। इससे उनका धर्मतेज उनसे निकल कर धर्मराज में जा मिला। पुत्र का वध सुन कुपित त्वष्टा ने अपनी एक जटा उखाड़ उसे अग्नि में हवन कर दिया। उससे महान् सुरद्रोही वृत्र का जन्म हुआ। उसके उपद्रवों के निरोधार्थ सप्तर्षियों ने उसकी और इन्द्र की सन्धि करा दी। कुछ दिन बाद अवसर पा इन्द्र ने उस सन्धि को तोड़ वृत्र को मार डाला। इस दूसरी ब्रह्महत्या के पाप से उनका बल उनसे निकल कर पवन में जा मिला। फिर जब उन्होंने गौतम ऋषि की पत्नी सुन्दरी अहल्या का सतीत्व नष्ट किया तब उनका रूप-सौन्दर्य उनसे निकल अश्विनीकुमारों में जा मिला। बाद में राजाओं की असुर वृत्ति से पीड़ित पृथ्वी में शान्ति-स्थापन के निमित्त जब भगवान् के अवतार लेने की आवश्यकता हुई तब उसके अनुरूप भूमिका तयार करने के लिये देवगण पृथ्वी पर जन्म लेने लगे। उस समय पाण्डु की प्रथम पत्नी कुन्ती ने धर्मराज से इन्द्र के धर्म को प्राप्त कर उससे युधिष्ठिर को, इन्द्र के वीर भाव से अर्जुन को, पवन से इन्द्र के बल को प्राप्त कर उससे भीम को तथा पाण्डु की द्वितीय पत्नी माद्री ने अश्विनीकुमारों से इन्द्र का रूप-सौन्दर्य प्राप्त कर उससे नकुल और सहदेव को जन्म दिया। इस प्रकार पाँच शरीरों में एक इन्द्र का ही जन्म हुआ। उन्हीं दिनों महाराज द्रुपद के घर अग्नि से इन्द्र की पत्नी शची का जन्म हुआ। समय आने पर अर्जुन के शरीर में उत्पन्न इन्द्र के मत्स्यवेध से प्रभावित हो द्रुपद ने अपनी पुत्री द्रौपदी अर्जुन को अर्पित कर दी और वह माता कुन्ती की आज्ञा से उनके पाँचों पुत्रों की पत्नी बनी। इस आख्यान से स्पष्ट है कि द्रौपदी पाँच पुरुषों की पत्नी नहीं किन्तु पाँच शरीरों में अवस्थित एक ही पुरुष इन्द्र की पत्नी थी।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—

जब बलदेव जी ने देखा कि उनके प्रिय अनुज श्रीकृष्ण ने अर्जुन का पक्ष

ले लिया तब वे बड़े असमंजस में पड़े। उन्होंने सोचा कि यदि मैं अब दुर्योधन के पक्ष में जाता हूँ तो कृष्ण के साथ विरोध करना होगा जो मेरे लिये उचित नहीं है और यदि कृष्ण के कारण पाण्डवों का पक्ष लेता हूँ तो दुर्योधन का विरोध करना होगा, और यह भी मेरे लिये नितान्त अनुचित है क्योंकि दुर्योधन के साथ मेरे अनेक प्रिय नाते हैं, अतः उन्होंने निश्चय किया कि मैं किसी भी पक्ष में सम्मिलित न होऊँगा किन्तु जब तक कौरव-पाण्डवों के झगड़े निपट नहीं जाते तब तक तीर्थयात्रा करूँगा। इस निश्चय के अनुसार वे अपनी पत्नी रेवती तथा थोड़े से परिजन साथ में ले तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़े। इस यात्रा में ही एक बार उन्होंने अधिक मात्रा में मद्यपान कर रैवत वन में प्रवेश किया। उस समय वहाँ सूत जी ऋषियों के बीच पुराणों का प्रवचन कर रहे थे। ऋषियों ने मद्यपान से उन्मत्त हुये बलदेव जी को देखकर आसन से उठ उनका सत्कार किया, पर सूत जी ने व्यासासन की मर्यादा को ध्यान में रख आसन का त्याग नहीं किया। इससे क्रुद्ध हो उन्मत्त बलदेव ने सूत जी का वध कर दिया। इस घटना से खिन्न हो ऋषिगण उस वन को छोड़कर चल दिये। बाद में जब बलदेव जी का उन्माद उतरा तब उन्हें अपने अपराध का ज्ञान हुआ और उन्होंने अपने को ब्रह्महत्या के पाप से लिप्त समझा। इस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के निमित्त अपने पाप का कीर्तन करते हुये उन्होंने पुनः नये सिरे से महती तीर्थयात्रा का उपक्रम किया।

चौथे प्रश्न का उत्तर—

जब विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र का सारा राज्य दान के रूप में प्राप्त कर लिया और राजसूय यज्ञ की पूर्व-प्रतिज्ञात दक्षिणा का राज्य के बाहर से प्रबन्ध करने के लिये लाठी से मार उन्हें राज्य से बाहर करने की क्रूर चेष्टा करने लगे तब राजा की वह दयनीय दशा देख विश्वेदेवों को दया आ गई और वे विश्वामित्र की क्रूरता की निन्दा करने लगे। इस बात से कुपित हो विश्वामित्र ने उन्हें मनुष्य योनि में पैदा होने का शाप दे दिया। शाप से त्रस्त हो विश्वेदेवों ने उनके अनुग्रह की याचना की। उन्होंने कहा कि मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता, मनुष्य योनि में तो आप लोगों को अब पैदा होना ही पड़ेगा। हाँ, मनुष्य होकर आप लोग वहाँ के बन्धनों में अनन्त काल के लिये फँस न जायँ इसके लिये मैं आप लोगों को छूट देता हूँ। अतः मनुष्य होने पर भी आप लोग दारसंग्रह और सन्तानोत्पादन के प्रपञ्च में न पड़ेंगे तथा मनुष्य के काम, क्रोध आदि सहज दोष आप लोगों को दूषित न कर सकेंगे। विश्वामित्र के इस शाप और अनुग्रह के कारण ही विश्वेदेवों का द्रौपदी के गर्भ से जन्म हुआ और अविवाहित अवस्था में ही वे मार डाले गये।

पुराण के लक्षण और मार्कण्डेय पुराण—

पुराण के उपर्युक्त लक्षण की कसौटी पर मार्कण्डेय पुराण को कसने पर ज्ञात होता है कि यह एक पूर्ण पुराण है क्योंकि इसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित का विमल वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ कतिपय सम्बन्धित बातों की चर्चा आगे की जा रही है।

सर्ग-सृष्टि

मार्कण्डेय पुराण के ४७ वें अध्याय से ५५ वें अध्याय तक सर्ग का वर्णन किया गया है। निष्क्रिय रूप से समभावेन अवस्थित प्रकृति और पुरुष में सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर का अनुप्रवेश होकर प्रकृति के क्षोभ से सर्ग का आरम्भ बताया गया है। ४७ वें अध्याय में सर्ग के मुख्य तीन भेदों का निर्देश प्राप्त होता है-प्राकृत, वैकृत और कौमार। प्राकृत सर्ग के तीन भेद हैं—ब्रह्मसर्ग, भूतसर्ग तथा इन्द्रियसर्ग। वैकृत सर्ग के पाँच भेद हैं—मुख्यसर्ग, तिर्यक्सर्ग, देवसर्ग, मानुष सर्ग और अनुग्रह सर्ग। कौमार सर्ग का दूसरा नाम रुद्रसर्ग है, इसके किसी अवान्तर भेद का उल्लेख नहीं है। इन सर्गों की चर्चा अगले श्लोकों में है—

प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते॥

महान् ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रथम अर्थात् ब्रह्मसर्ग है और तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) की उत्पत्ति द्वितीय सर्ग है जिसे भूतसर्ग कहा जाता है।

वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्गश्चैन्द्रियकः स्मृतः।
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः॥

तीसरा इन्द्रिय सर्ग है जिसे वैकारिक भी कहा जाता है। यही तीन प्राकृत सर्ग हैं। इनकी उत्पत्ति बुद्धिपूर्वक होती है।

मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः।
तिर्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तिर्यग्योन्यः स पञ्चमः॥

मुख्य के माने हैं स्थावर अर्थात् भूमि, पर्वत, वृक्ष आदि। इनकी उत्पत्ति चौथा सर्ग है। इसी का नाम मुख्य सर्ग है। तिर्यक् अर्थात् पशु, पक्षी, सर्प आदि की उत्पत्ति पाँचवाँ सर्ग है जिसे तिर्यक्स्रोत या तिर्यक्सर्ग नाम से कहा गया है।

ततोर्द्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः।
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः॥

ऊर्ध्वस्रोत-देवताओं की उत्पत्ति छठा सर्ग है जिसका नाम देवसर्ग है; और अर्वाक्स्रोत-मनुष्यों की उत्पत्ति सातवाँ सर्ग है जिसे मानुष सर्ग कहा जाता है।

अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः॥

आठवाँ अनुग्रह सर्ग है जिसमें सात्त्विक तथा तामस दोनों का समावेश है। मुख्य से अनुग्रह तक के पाँच सर्ग वैकृत हैं और उनके पूर्व कहे गये तीन सर्ग प्राकृत हैं।

प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः।
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः॥

तीन प्राकृत, पाँच वैकृत तथा नवाँ कौमार ये कुल मिलकर प्रजापति के नव सर्ग हैं।

इन समस्त सर्गों की आधारशिला ब्रह्म है, जो अनन्त सत्ता, अखण्ड चैतन्य और एकमात्र आनन्दरूप है।

प्रतिसर्ग-प्रलय

प्रतिसर्ग अर्थात् प्रलय के चार भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक। जो प्रलय प्रतिदिन होता है उसे नित्य प्रलय कहा जाता है जैसे सुषुप्ति। सुषुप्ति के समय सुप्त जीव के समस्त कार्यप्रपञ्च का लय हो जाता है अर्थात् जब तक प्राणी सोया रहता है तब तक उसके लिये एक प्रकार के प्रलय की अवस्था रहती है।

ब्रह्मा के दिन के समय सर्ग का अस्तित्व रहता है। जब उसकी रात्रि होती है तब भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों का नाश हो जाता है। इसी नाश को नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है—

तस्यान्ते प्रलयः प्रोक्तो ब्रह्मन्! नैमित्तिको बुधैः।
भूर्लोकोऽथ भुवर्लोकः स्वर्लोकश्च विनाशिनः॥

(मा० पु० ४६ अ०)

ब्रह्मा के दिन की समाप्तिरूप निमित्त से होने के कारण इसका नाम नैमित्तिक है। ब्रह्मा के एक दिन की जो अवधि होती है वही उनकी एक रात्रि की अवधि होती है और वही इस प्रलय की भी अवधि है।

एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का काल मनुष्य का एक अहोरात्र है। पन्द्रह अहोरात्रों का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक मास होता है। छः

मासों का एक अयन होता है। दो अयनों (उत्तर और दक्षिण) का एक वर्ष होता है। मनुष्य का यह एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र है—

अहोरात्रैश्च त्रिंशद्भिः पक्षौ द्वौ मास उच्यते।
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे॥
तद्देवानामहोरात्रम्…………

(मा० पु० ४६ अ०)

देवताओं के अहोरात्र से बननेवाले बारह मासों का एक दिव्य वर्ष होता है, बारह सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी (कृत, त्रेता, द्वापर और कलि) होती है—

दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिः… … … … … … ॥

(मा० पु० ४६ अ०)

एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है—

एतत्सहस्रगुणितमहर्ब्राह्मयमुदाहृतम्।

(मा० पु० ४६ अ०)

जब ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगी बीत जाती हैं तब इतनी ही अवधि की ब्रह्मा की एक रात होती है—

तत्प्रमाणैव सा रात्रिः। (मा० पु० ४६ अ०)

इस प्रकार नैमित्तिक प्रलय की अवधि एक सहस्र चतुर्युगी की अवधि के बराबर होती है। इस अवधि में ब्रह्मा जी शयन करते हैं। इस रात के व्यतीत होने के साथ ही ब्रह्मा जी की नींद टूटती है और तब पुनः वे नवीन सृष्टि की रचना करते हैं—

……तदन्ते सृज्यते पुनः। (मा० पु० ४६ अ०)

ब्रह्मा के उपर्युक्त अहोरात्र से बननेवाले वर्षों से एक सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है—

तस्य वर्षशतं त्वेकं परमायुर्महात्मनः।
ब्राह्मयेणैव हि मानेन……………… ॥

(मा० पु० ४६ अ०)

इन सौ वर्षों की संज्ञा है 'पर'। इसके आधे भाग अर्थात ब्रह्मा के पचास वर्षों के काल को 'परार्ध' कहते हैं। पहला परार्ध बीत चुका है, दूसरे परार्ध का इस समय वाराह कल्प चल रहा है—

शतं हि तस्य वर्षाणां परमित्यभिधीयते।
पञ्चाशद्भिस्तथा वर्षैः परार्धमिति कथ्यते॥

एवमस्य परार्धं तु व्यतीतं द्विजसत्तम !
द्वितीयस्य परार्धस्य वर्तमानस्य वै द्विज !
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकल्पितः ॥
(मा० पु० ४६ अ०)

ब्रह्मा के एक दिन को एक कल्प कहा जाता है।

ब्रह्मा की आयु का यह द्विपरार्धात्मक काल परब्रह्म परमेश्वर का एक दिन है—

उत्पत्तेर्ब्रह्मणो यावदायुषो द्विपरार्धकम्।
तावद्दिनं परेशस्य·· ॥
(मा० पु० ४६ अ०)

ब्रह्मा की कथित आयु पूर्ण हो जाने पर समस्त त्रिलोकी का प्रकृति में लय हो जाता है। ब्रह्मा भी काल के गाल में समा जाते हैं। अव्यक्त सारे विकारों से रहित हो अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, प्रकृति और पुरुष समान-धर्मा अर्थात् निष्क्रिय हो अवस्थित हो जाते हैं। प्रकृतिगत इस महान् विनाश को ही प्राकृत प्रलय कहा जाता है—

यदा तु प्रकृतौ याति लयं विश्वमिदं जगत्।
तदोच्यते प्राकृतोऽयं विद्वद्भिः प्रतिसञ्चरः ॥
स्वात्मन्यवस्थितेऽव्यक्ते विकारे प्रतिसंहृते।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव साधर्म्येणावतिष्ठतः ॥
(मा० पु० ४६ अ०)

यह प्राकृत प्रलय ही परमेश्वर की रात है। इसकी अवधि ब्रह्मा की आयु की अवधि के बराबर होती है—

'तत्समा संयमे निशा' (मा० पु० ४६ अ०)

इस प्रलय की अवधि समाप्त होने पर अपनी रात के अन्त में प्रातःकाल परब्रह्म परमेश्वर अपने योग द्वारा प्रकृति को क्षुब्ध कर नये ब्रह्मा की उत्पत्ति करते हैं और फिर उसके द्वारा नई सृष्टि की रचना तथा विस्तार होता है, जैसा कि अग्रिम श्लोकों से प्रकट होता है—

अहर्मुखे प्रबुद्धस्तु जगदादिरनादिमान्।
सर्वहेतुरचिन्त्यात्मा परः कोऽप्यपरक्रियः ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु जगत्पतिः।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥
प्रधाने क्षोभ्यमाणे तु स देवो ब्रह्मसंज्ञितः।
समुत्पन्नः············ ॥

उत्पन्नः स जगद्योनिरगुणोऽपि रजोगुणम् ।
युञ्जन्प्रवर्तते सर्गे ब्रह्मत्वं समुपाश्रितः ॥

(मा० पु० ४६ अ०)

वंश

वंश शब्द से वे राजवंश विवक्षित हैं जो भिन्न-भिन्न मनुओं द्वारा प्रतिष्ठित हो पृथ्वी का शासन करते हैं, जिनके चरित्र और विधान से तत्तत् समय में प्रजावर्ग की गतिविधि परिचालित होती है। राजवंशों का वर्णन पुराण में बड़े विस्तार से मिलता है। मार्कण्डेय पुराण में भी १०१ वें अध्याय से वंशों तथा उनके चरित्रों का वर्णन किया गया है। वंशों का परिचय मन्वन्तर एवं वंशानुचरित की चर्चा के प्रसङ्गों में प्राप्त होगा।

मन्वन्तर

जो समस्त पृथ्वी पर अपना अधिकार स्थापित कर अपने विधान से सारी पृथ्वी का शासन करता है वह मनु कहा जाता है और उसका विधान तथा उसकी वंश-परम्परा का शासन जितने काल तक चलता है वह मन्वन्तर कहा जाता है। यह काल कुछ अधिक एकहत्तर चतुर्युगी के बराबर होता है। एक मन्वन्तर की अवधि मनुष्य वर्ष के मान से तीस करोड़, सड़सठ लाख, बीस सहस्र वर्षों की होती है, जैसा कि अगले श्लोकों से ज्ञात होता है—

मन्वन्तराणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मानुषेण प्रमाणेन शृणु मन्वन्तरं च मे ॥
त्रिंशत्कोट्यस्तु संख्याताः सहस्राणि च विंशतिः ।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि च संख्यया ॥

(मा० पु० ५३ अ०)

इस मान के चौदह मन्वन्तर ब्रह्मा के एक दिन में व्यतीत होते हैं।

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवः स्युश्चतुर्दश ।

(मा० पु० ४६ अ०)

प्रति मन्वन्तर में देवता, सप्तर्षि, इन्द्र, मनु और उनके राजवंश बदल जाते हैं—

देवाः सप्तर्षयः सेन्द्रा मनुस्तत्सूनवो नृपाः ।
मनुना सह सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥

(मा० पु० ४६ अ०)

चौदहों मन्वन्तर ये हैं—

स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, धीमान-ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्य और भौत्य—

स्वायम्भुवो मनुः पूर्वं मनुः स्वारोचिषस्तथा ।
औत्तमस्तामसश्चैव रैवतश्चाक्षुषस्तथा ॥
षडेते मनवोऽतीतास्तथा वैवस्वतोऽधुना ।
सावर्णिः पञ्च रौच्याश्च भौत्यांश्चागामिनस्त्वमी ॥
(मा० पु० ५३ अ०)

१. स्वायम्भुव—

परब्रह्म परमेश्वर के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने उत्तम सृष्टि के विस्तार की इच्छा से अपने शरीर के एक भाग से एक पुरुष और दूसरे भाग से एक स्त्री उत्पन्न की, जो स्वायम्भुव मनु और शतरूपा नाम से प्रसिद्ध हुये। इन दोनों के योग से प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र पैदा हुये। उत्तानपाद को उनकी सुनीति और सुरुचि नाम की पत्नियों से ध्रुव और उत्तम नाम के दो पुत्र हुये। प्रियव्रत का विवाह प्रजापति कर्दम की पुत्री प्रजावती से हुआ। उनके दश पुत्र उत्पन्न हुये—अग्नीध्र, मेधातिथि, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, भव्य, सवन, मेधा, अग्निबाहु और मित्र। इनमें मेधा, अग्निबाहु और मित्र संसार से विरक्त हो तपस्वी हो गये। प्रियव्रत बड़े प्रतापी थे। सारी पृथ्वी उनके वश में थी। अपने पुत्रों के निमित्त उन्होंने पृथ्वी को द्वीप नाम के सात खण्डों में बाँट दिया। प्लक्ष द्वीप में मेधातिथि को, शाल्मलि द्वीप में वपुष्मान् को, कुशद्वीप में ज्योतिष्मान् को, क्रौञ्चद्वीप में द्युतिमान् को, शाकद्वीप में भव्य को, पुष्कर द्वीप में सवन को तथा जम्बूद्वीप में ज्येष्ठ पुत्र अग्नीध्र को राज्यासन पर अभिषिक्त किया। अग्नीध्र के नव पुत्र हुये—नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्य; कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। इन नवों के लिये अग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नव भागों में विभक्त कर एक एक पुत्र को एक एक खण्ड का राजा बना दिया। जिस खण्ड का जो राजा हुआ वह खण्ड उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो भाग हिमालय से लेकर दक्षिण; पूर्व तथा पश्चिम के समुद्रों तक फैला था उस पर अग्नीध्र के ज्येष्ठ पुत्र नाभि का राज्य हुआ और उन्हीं के नाम से वह अजनाभ कहलाया। हिमालय से आरम्भ होने के कारण उसका एक नाम हिम भी था। नाभि के पुत्र ऋषभ हुये और ऋषभ से भरत की उत्पत्ति हुई: ऋषभ ने भरत को राज्य देकर स्वयं संन्यास ले लिया। भरत बड़े वीर, तेजस्वी, प्रभावशाली और धार्मिक पुरुष थे। उनके महान् प्रभाव एवं परमोत्तम शासन के कारण ही उनके नाम के आधार पर इस देश की प्रसिद्धि भारतवर्ष के नाम से हुई। यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट है—

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत्सुतो द्विज !
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददो ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥
(मा० पु० ५४ अ०)

भारतवर्ष

भारतवर्ष के दो भेद हैं—एक वृहत्तर भारत और दूसरा भारत या लघु-भारत। वृहत्तर भारत के नव भाग हैं और वे एक दूसरे से समुद्र द्वारा व्यवहित एवं विभक्त हैं, अतः एक भाग से दूसरे भाग में स्थल मार्ग से जाना असम्भव है—

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोध मे ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ॥
(मा० पु० ५७ अ०)

वृहत्तर भारत के नव भागों में जो भाग हिमालय के दक्षिण में स्थित है वह पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ देश है। इसके तीन ओर—पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में-समुद्र और उत्तर में हिमालय पर्वत स्थित है। इसके पूरे चित्र को ध्यान में रखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि पूर्व के पूरे भाग से दक्षिण होते हुये पश्चिम के पूरे भाग तक फैला हुआ महासमुद्र एक धनुष है और उत्तर में खड़ा हिमालय उसकी डोर है तथा बीच का स्थल भाग (भारतवर्ष) धनुष और डोर के बीच का रिक्त स्थान है—

एतत्तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थानसंस्थितम् ।
दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ॥

हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।
तदेतद्भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तम ! ॥
(मा० पु० ५७ अ०)

हिमालय के दक्षिण में स्थित भारतवर्ष ही कर्म की भूमि है। पुण्य और पाप की व्यवस्था भी यहीं है, अन्यत्र नहीं। यहीं से मनुष्य स्वर्ग, मोक्ष, मनुष्य-योनि, नरकयोनि, पशु आदि की योनि अथवा अन्य योनि प्राप्त कर सकता है। इसी कारण देवताओं का सदा यही मनोरथ रहता है कि वे देवत्व से छूटकर भारतवर्ष में मनुष्य योनि में उत्पन्न हों—

भारतं नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ।
तत्कर्मभूमिर्नान्यत्र सम्प्राप्तिः पुण्यपापयोः ॥
तस्मात् स्वर्गापवर्गौ च मानुष्यनारकावपि ।
तिर्यक्त्वमथवाप्यन्यन्नरः प्राप्नोति वै द्विज ! ॥

देवानामपि विप्रर्षे ! सदैवैष मनोरथः ।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात्प्रच्युताः क्षितौ ॥

(मा० पु० ५५-५७ अ०)

मानव-सभ्यता

पुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानवजाति तथा मानव सभ्यता का उद्गम और विकास सर्वप्रथम इस भारतवर्ष में ही हुआ, क्योंकि मनु ही इस जाति और इस सभ्यता के आद्य उद्भावक हैं और उनके जन्म एवं जीवन का क्षेत्र यही देश है। उनके वंशजों का फैलाव पृथ्वी के अन्य देशों में यहाँ से ही हुआ था। हमारी इस धारणा का आधार यह है कि मनु की वंश-परम्परा का ज्येष्ठ पुत्र सदा इसी देश के राज्यासन पर अभिषिक्त होता रहा और यह सर्वमान्य प्रथा है कि पिता ज्येष्ठ पुत्र को ही अपने प्रधान स्थान का अधिकारी बनाता है अतः यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि इस देश पर पाश्चात्यों का शासन होने के बाद से कतिपय ऐतिहासिकों ने जो यह मत व्यक्त किया है कि इस देश में सभ्य मानवों का आगमन बाहर से हुआ है वह नितान्त असत्य है।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रति मन्वन्तर में देवगण, इन्द्र, सप्तर्षि और राजवंश भिन्न-भिन्न होते हैं। उसके अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत का वंश ही इस मन्वन्तर का राजवंश है। इस पूरे मन्वन्तर में उस वंश के लोगों का ही सारी पृथ्वी पर शासन था। यह बात अगले श्लोक में व्यक्त है—

एतेषां पुत्रपौत्रैस्तु सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तु भुक्ता स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥

(मा० पु० ५३ अ०)

ऊर्जा नामक पत्नी से वशिष्ठ के सात पुत्र पैदा हुये थे—रज, गात्र, ऊर्ध्व-बाहु, सबल, अनघ, सुतपा और शुक्र। ये ही इस मन्वन्तर के सप्तर्षि हैं—

ऊर्जायां तु वशिष्ठस्य सप्ताजायन्त वै सुताः ।
रजोगात्रोर्ध्वबाहुश्च सबलश्चानघस्तथा ॥
सुतपाः शुक्र इत्येते सर्वे सप्तर्षयः स्मृताः ॥

(मा० पु० ५२ अ०)

यज्ञ की पत्नी दक्षिणा से बारह पुत्र पैदा हुये थे जो यामा नाम से प्रसिद्ध थे। ये ही इस मन्वन्तर के देवगण हैं—

यज्ञस्य दक्षिणायास्तु पुत्रा द्वादश जज्ञिरे ।
यामा इति समाख्याता देवाः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥

(मा० पु० ५० अ०)

इन देवताओं के पिता यज्ञ और माता दक्षिणा दोनों प्रजापति की सहोत्पन्न सन्तति हैं तथा इनका दाम्पत्य भी सहज है।

२. स्वारोचिष—

वरुणा नदी के तट पर अरुणास्पद नामक स्थान में एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा विद्वान्, सदाचारी तथा अत्यन्त सुन्दर था। एक दिन उसके यहाँ आये हुये एक अतिथि ने उसे एक लेप दिया। उस लेप को पैर में लगा कर इच्छानुसार पृथ्वी के किसी भी भाग में बड़ी शीघ्रता से अनायास जाया जा सकता था। इस लेप को पा ब्राह्मण ने देशाटन की अपनी चिरन्तन इच्छा पूर्ण करने का निश्चय किया। लेप का प्रयोग कर सर्वप्रथम वह हिमालय पर्वत पर गया। पर्वत के अनेक रमणीय स्थानों के देखने में तल्लीन हो जाने से उसे लेप को सुरक्षित रखने का ध्यान न रहा। फलतः झरनों की जलधारा से पैर का लेप धुल गया। जब उसे घर लौटने की सुधि हुई तो अपने को असमर्थ पा उसे बड़ी चिन्ता हुई। इसी बीच वरूथिनी नाम की एक परम-सुन्दरी अप्सरा आई और ब्राह्मण के अप्रतिम सौन्दर्य से मुग्ध हो उससे प्रणय-याचना करने लगी। ब्राह्मण बड़ा धार्मिक एवं सद्वृत्त था। उसने अप्सरा की मांग ठुकरा दी और घर लौटने की शक्ति प्राप्त करने के निमित्त अग्निदेव की विनती की। उसकी विनती तथा दृढ़ धर्मनिष्ठा के कारण गार्हपत्य अग्नि ने उसके शरीर में बलाधान कर दिया और वह अपने घर चला गया। इधर वरूथिनी उसकी उपेक्षा से अत्यन्त व्यथित हो गई और आतुर हो उसे प्राप्त करने का उपाय करने लगी। कलि नाम का गन्धर्व, जिसकी प्रणय-प्रार्थना को इस अप्सरा ने एक बार अस्वीकार कर दिया था, इस अवसर का लाभ उठाने को उद्यत हुआ। अप्सरा जिस ब्राह्मण के लिये विह्वल थी उसी के रूप में वह गन्धर्व उसके समक्ष उपस्थित हुआ। वरूथिनी उसे देख प्रसन्न हो उठी और उसने बड़े कातर भाव से पुनः प्रणय की याचना की। इस बार उसकी प्रार्थना स्वीकृत हो गई और फलस्वरूप उसे गर्भाधान हो गया। थोड़े दिन बाद उससे एक बड़ा तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम स्वरोचिष पड़ा। युवा होने पर मनोरमा, विभावरी और कलावती नाम की अपनी पत्नियों से उसने विजय, मेरुनाद और प्रभाव नाम के तीन पुत्र पैदा किये। पुत्रों के बड़े होने पर राजा ने देश को पूर्व, उत्तर और दक्षिण इन तीन भागों में विभक्त कर विजय को पूर्व का, मेरुनाद को उत्तर का तथा प्रभाव को दक्षिण का राजा बना दिया और स्वयं राजकार्य से मुक्त हो आनन्द से रहने लगा। एक दिन वह वन विहार के लिये जंगल गया। सामने एक वाराह दिखाई पड़ा। उसे मारने को ज्यों ही उसने बाण ताना त्यों ही सामने आ हरिणी ने कहा 'राजन्! इस बाण को वाराह पर मत डालिये, किन्तु इससे

मेरा वध कीजिये अथवा मुझे अपनी पत्नी बनाइये। यदि आप पत्नी के रूप में मुझे स्वीकार करेंगे तो मैं आपकी पत्नी बन सकने के अनुरूप शरीर में परिवर्तित हो जाऊँगी।" यह सुन राजा ने ज्यों ही प्रेम भाव से हरिणी का स्पर्श किया त्यों ही वह एक दिव्य रमणी के रूप में परिवर्तित हो गई और बोली राजन्! मैं इस वन की देवी हूँ। देवताओं की इच्छा है कि आप मुझ से एक ऐसा पुत्र पैदा करें जो समस्त भूमण्डल का शासक हो मनु का पद प्राप्त करे। राजा ने उस रमणी की बात मान ली और उससे द्युतिमान् नाम का एक पुत्र पैदा किया। यही पुत्र युवा होने पर स्वारोचिष नाम का मनु हुआ।

पारावत और तुषित इस मन्वन्तर के देवगण हैं। विपश्चित् इन्द्र हैं। ऊर्ज, साम्ब, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर तथा अर्ववीर सप्तर्षि हैं। चैत्र, किम्पुरुष आदि स्वारोचिष के सात पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हैं।

३. औत्तम—

स्वायम्भुव मनु के द्वितीय पुत्र राजा उत्तानपाद की पत्नी सुरुचि से उत्तम नाम का एक पुत्र पैदा हुआ। युवा होने पर उसने परम सुन्दरी बहुला के साथ विवाह किया। वह उस स्त्री से बहुत प्रेम करता था पर वह स्त्री बुरे मुहूर्त में विवाहित होने के कारण उससे प्रसन्न नहीं रहती थी। एक दिन सभा में प्रेमविह्वल हो राजा बड़े आदर से उसे सुरा का पानपात्र देने लगा किन्तु उस स्त्री ने अस्वीकार कर दिया। राजा ने अनेक जनों के समक्ष उसके इस व्यवहार से अपना भारी अपमान समझा और क्रुद्ध हो उसे जंगल भेज दिया। कुछ दिन बाद जब उसे यह ज्ञात हुआ कि पत्नी के अभाव में इह लोक और परलोक दोनों की हानि होती है। पत्नी के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है। पत्नी का त्याग महान् पाप है। तब उसे बड़ा पश्चाताप हुआ और अपनी पत्नी को प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठा। एक ऋषि ने उसे बताया कि उसकी पत्नी पाताल में नागराज की कन्या नन्दा के साथ सुरक्षित है और उसका चरित्र पवित्र है। वहाँ से वह उसे प्राप्त कर सकता है। यह जान राजा ने अपनी पत्नी का प्रेम पाने के निमित्त अपने नगर के एक ब्राह्मण से मित्रविन्दा इष्टिका अनुष्ठान कराया। अनुष्ठान पूर्ण हो जाने पर राजा ने अपने राज्य के महाशक्तिशाली एक राक्षस को आज्ञा दी कि वह पाताल से उसकी पत्नी को ले आये। आज्ञानुसार वह राक्षस पाताल गया और वहाँ से रानी को ला राजा को सौंप दिया। अब रानी राजा पर आसक्त हो गई थी। अतः दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ दिन पश्चात् उसके एक महापराक्रमशाली पुत्र पैदा हुआ, जो युवा होने पर औत्तम नाम का मनु हुआ।

स्वधामान, सत्य, शिव, प्रतर्दन और दशवर्ती इस मन्वन्तर के ये पाँच देवगण हैं। इनके स्वामी सुशान्ति इन्द्र हैं। अज, परशुचि और दिव्य मनु के इन तीन पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हैं।

४. तामस—

पृथ्वी पर स्वराष्ट्र नामका एक बड़ा बलवान् राजा हुआ। उसकी आयु इतनी अधिक लम्बी थी कि उसकी अनेक भार्यायें, अनेक मन्त्री तथा अनेकों नौकर चाकर उसके सामने ही मर गये। इससे वह अत्यन्त खिन्न एवं बलहीन हो गया। इसी समय विमर्द नाम के एक राजा ने उसे राज्यच्युत कर उसके राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इससे दुःखित हो वह जंगल में जा एक नदी के निकट घोर तपस्या करने लगा। वर्षा ऋतु में अति वर्षण के कारण नदी में बाढ़ आ गई और वह पानी की तीव्र धारा में बह चला। कुछ दूर जाने पर जल में तैरती हुई एक हरिणी की पूँछ उसके हाथ में लगी, उसे उसने पकड़ लिया। हरिणी के स्पर्श से राजा के मन में काम की भावना जाग उठी। उसकी चेष्टा से इस बात को समझ हरिणी ने कहा। राजन्! आपका मन उचित स्थान में ही चञ्चल हुआ है। मैं आपके लिये अगम्य नहीं हूँ। मैं पहले उत्पलावती नाम की आपकी पत्नी रह चुकी हूँ। एक मुनि के शाप से मृगी का जन्म लेना पड़ा है। शापदाता मुनि के कथनानुसार आपके स्पर्श के प्रभाव से मुझे अभी गर्भाधान हो गया है। इस गर्भ में सिद्धवीर्य मुनि के पुत्र महाबाहु लोल ने प्रवेश किया है। वह आपका पुत्र हो समस्त पृथ्वी पर विजय पा मनु का पद प्राप्त करेगा। गर्भावस्था में प्रणय-व्यवहार वर्जित है अतः आप अपना मन शान्त कर लें। इस बात को सुन राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने मन को संयत कर लिया। हरिणी ने यथासमय पुत्र को जन्म दे उस योनि से मुक्ति पा ली। ऋषियों ने तामसी योनि की माता से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम तामस रखा। जब वह बड़ा हुआ और पिता से उसे अपने राजपुत्रत्व का ज्ञान हुआ तब उसने सूर्यदेव की आराधना से दिव्य अस्त्र प्राप्त कर कतिपय दिनों में ही पिता के सारे शत्रुवों को जीत लिया और समस्त पृथ्वी पर अपना शासन स्थापित कर मनु का पद प्राप्त किया।

इस मन्वन्तर में सुधि, सुरूप तथा हर आदि सत्ताइस देवगण हुये। महापराक्रमी राजा शिव ने सौ यज्ञकर इन्द्र का पद प्राप्त किया। ज्योतिर्धाम, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, बालक और पीवर इस मन्वन्तर के सप्तर्षि हुये। नर, क्षान्ति, शान्त, दान्त, जानुजङ्घ आदि इस मनु के बलशाली पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हुये।

५. रैवत—

ऋतवाक् ऋषि बहुत दिन तक अपुत्र थे, अन्त में उन्हें एक पुत्र हुआ जो बड़ा दुःशील निकला। उसके दुश्चेष्टित से वे बहुत दुखी रहने लगे। गर्ग मुनि से उन्होंने उसकी दुःशीलता का कारण पूछा। गर्ग जी ने बताया कि रेवती नक्षत्र के अन्त में पैदा होने के नाते यह इतना दुःशील है। यह सुन ऋषि रेवती नक्षत्र पर कुपित हो गये और शाप दे उसे स्थानच्युत कर दिये। जब ऋषि के शाप से रेवती नक्षत्र कुमुद पर्वत पर गिरा तो उसकी कान्ति से वहाँ पङ्कजिनी नाम का एक सरोवर बन गया। उस सरोवर से एक परम सुन्दरी कन्या प्रकट हुई। वहाँ रहने वाले प्रमुच मुनि ने उसका नाम रेवती रख दिया। रेवती थोड़े दिनों में युवती हो गई। एक दिन मृगया के प्रसङ्ग से प्रियव्रत के वंशज राजा दुर्गम वहाँ आये। मुनि ने उनसे उस कन्या का विवाह करने की इच्छा व्यक्त की। कन्या ने कहा कि वह रेवती नक्षत्र में ही अपना विवाह करेगी। उसके अनुरोध को देख मुनि ने अपनी तपस्या के बल रेवती नक्षत्र को पूर्व स्थान में प्रतिष्ठित कर राजा दुर्गम के साथ उसका विवाह कर दिया। मुनि ने विवाह की दक्षिणा मांगने के लिये राजा को संकेत किया। राजा ने कहा मुने! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यह वरदान दीजिये कि मेरी इस नवीन पत्नी से ऐसा पुत्र पैदा हो जो मन्वन्तर की स्थापना करे। मुनि से यह वर प्राप्त कर राजा इस नई पत्नी के साथ अपने नगर को चले गये। थोड़े दिन बाद इस पत्नी से एक पुत्र पैदा हुआ जो सब धर्मों से युक्त तथा मनुष्यमात्र से अजेय था। युवा होने पर समस्त पृथ्वी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर वही रैवत मनु के नाम से ख्यात हुआ।

इस मन्वन्तर में सुमेधा, वैकुण्ठ, भूपति और अमिताभ नाम के चार देवगण हुये। राजा बिन्दु ने सौ यज्ञों का अनुष्ठान कर इन्द्र का पद प्राप्त किया। हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य, और वशिष्ठ सप्तर्षि हुये। बलबन्धु, महावीर, सुयष्टव्य, सत्यक आदि रैवत मनुके पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हुये।

उक्त पांच मनुवों में स्वारोचिष को छोड़ अन्य चारों मनु एक ही वंश-परम्परा के हैं।

६. चाक्षुष—

राजर्षि अनमित्र की पत्नी भद्रा से एक पुत्र पैदा हुआ जो शुचि एवं सुविद्वान् था तथा जन्मान्तर की घटनावों का स्मरण कर सकता था। उसकी माता उसे गोद में बिठा बड़े लाड़ प्यार से खेला रही थी। उसी समय उसे

जन्मान्तर का स्मरण हो आया और साथ ही हंसी आ गई। इस अकाल हास्य से क्रुद्ध हो माता ने हंसी का कारण पूछा। बालक ने कहा कि एक ओर मार्जारी मुझे खाने को बैठी है, दूसरी ओर जातहारिणी मेरा हरण करने के विचार से मेरी ओर टकटकी लगाये है और तुम स्नेह से पुलकित हो अतृप्त नेत्रों से मुझे देख रही हो तथा बड़े चाव से चूमचाट रही हो। पर मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार मार्जारी और जातहारिणी स्वार्थवश मुझे देख रही हैं उसी प्रकार तुम भी स्वार्थवश ही यह सब प्यार दुलार कर रही हो। अन्तर केवल इतना ही है कि ये दोनों मुझे खा कर सद्यः अपना स्वार्थसाधन करना चाहती हैं और तुम धीरे-धीरे मुझसे अपने स्वार्थ का साधन करना चाहती हो। बस, इसी विचार से मुझे हंसी आ गई है। यह सुन माता ने कहा कि यदि तुम मेरे स्नेह को स्वार्थमूलक समझते हो तो मैं तुम्हें अभी छोड़े देती हूँ। इतना कह बालक को त्याग कर माता सूतिकागृह से बाहर चली गई। उसी समय जातहारिणी ने उसे उठा लिया और ले जाकर राजा निष्क्रान्त की नवप्रसूता पत्नी हैमिनी की शय्या पर सुला दिया और वहाँ के बच्चे को ले जाकर विशाल ग्राम के बोध नामक ब्राह्मण की नवप्रसूता पत्नी के बिछौने पर रख उसके नव जात बालक को खा डाला। राजा ने उस बालक का नाम आनन्द रखा बड़ा होने पर उपनयन संस्कार के समय जब गुरु ने जननी को प्रणाम करने के लिये कहा तब आनन्द ने बताया कि मेरी जननी यहाँ नहीं है। मैं तो दूसरी माता के उदर से पैदा हुआ हूँ। जातहारिणी मुझे यहाँ ले आई है और यहां के पुत्र को उसी ने विशाल ग्राम में बोध नामक ब्राह्मण के घर कर दिया है। वह चैत्र नाम से वहाँ स्थित है। यह कह आनन्द ने तपस्या करने के हेतु वन जाने की अनुमति माँगी। राजा निष्क्रान्त ने वस्तुस्थिति जानकर उससे अपनी ममता तोड़ वन जाने की अनुमति दे दी। वह वन में जा कर कठोर तप करने लगा। उसकी गम्भीर तपोनिष्ठा को देख प्रजापति ने उससे कहा कि इस तपस्या से तुम मुक्ति न प्राप्त कर सकोगे क्यों कि तुम्हारे कर्म अभी बहुत अधिक शेष हैं। तुम्हें मनु का पद प्राप्त कर पृथ्वी के शासन की व्यवस्था करनी है। तप छोड़ तुम उस कार्य का साधन करो। उक्त बात कहते समय प्रजापति ने उसे चाक्षुष नाम से संबोधित किया था अतः उसने अपने को चाक्षुष नाम से प्रसिद्ध किया और प्रजापति के कथनानुसार तप से विरत हो समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर मनु का पद प्राप्त किया। तदनन्तर राजा उग्र की कन्या विदर्भा से विवाह किया जिससे पराक्रमशाली अनेक पुत्रों का जन्म हुआ।

इस मन्वन्तर में आर्य, प्रसूत, भव्य, यूथग और लेख नाम के पांच देवगण हुये। मनोजव राजा ने इन्द्र का पद प्राप्त किया। सुमेधा, विरजा, हविष्मान्,

उन्नत, मधु, अतिनाम और सहिष्णु सप्तर्षि हुये। चाक्षुष मनु के पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हुये।

७. वैवस्वत—

विवस्वान् मार्तण्ड सूर्य का नाम है। उनका विवाह विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा देवी से हुआ। इस देवी ने सूर्यदेव के द्वारा वैवस्वत नाम का एक पुत्र पैदा किया। सूर्यदेव के प्रचण्ड तेज को न सह सकने के कारण उनके सम्मुख संज्ञा देवी अपनी आँखें मूँद लिया करती थीं। इस अभ्यास से रुष्ट हो सूर्यदेव ने उन्हें शाप दे दिया कि तुमसे यम नामक एक पुत्र पैदा होगा जो प्रजाजनों को दण्ड देगा। यह सुन देवी के नेत्र चञ्चल हो उठे। तब सूर्यदेव ने दूसरा शाप दिया कि तुम से एक कन्या पैदा होगी जो अति चञ्चला होगी। इन शापों के अनुसार संज्ञा देवी ने यम और यमुना को उत्पन्न किया। जब सूर्य का तेज सहन करने में वे अपने को उत्तरोत्तर असमर्थ ही पाती गईं तो अपने स्थान में अपनी छाया को नियुक्त कर उसे ही अपनी सन्तानों को सौंप पिता के घर चली गईं। पिता ने बड़े सम्मान से अपने यहाँ उन्हें रखा किन्तु विवाहिता कन्या का पिता के घर बहुत दिन रहना उचित न मान समझा-बुझा कर उन्हें बिदा कर दिया। पिता के घर से तो वे चल दीं पर सूर्यताप के भय से पति के घर न जाकर उत्तरकुरु चली गईं और वहीं अश्वा का रूप धारण कर तपस्या करने लगीं। इधर सूर्यदेव ने छाया-संज्ञा को ही सच्ची संज्ञा समझ उससे दो पुत्र तथा एक कन्या और पैदा की। अब छाया-संज्ञा अपनी सन्तानों की अपेक्षा सूर्यदेव की पूर्व सन्तानों को कम मानने लगी और सेवा, सत्कार में विषमता कर दी। यम को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने उसे मारने के लिये पैर उठाया। इसे देख छाया-संज्ञा ने शाप दे दिया कि तुम्हारा यह पैर पृथ्वी पर गिर जाय। इस बात से दुखी हो यम ने अपने पिता सूर्यदेव के पास जा कर कहा कि यह मेरी माता नहीं है। यह कोई दूसरी स्त्री है। अन्यथा यह अपने पुत्र को ऐसा कठोर शाप कैसे देती?। यह सुन सूर्यदेव ने उस स्त्री से वस्तुस्थिति पूछी। पहले तो बताने में उसने कुछ आनाकानी की पर बाद में शाप के भय से सारी बातें बता दीं। बात विदित हो जाने पर सूर्यदेव श्वशुर के घर गये और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि संज्ञा वहाँ आई थी अवश्य, पर पिता ने समझा बुझा उसे पति-गृह भेज दिया था, तब समाधि द्वारा सन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि वह उत्तर कुरु में अश्वा के रूप में तपस्या कर रही है और चाहती है कि उसके पति का तेज सौम्य और सह्य हो जाय। यह जान सूर्यदेव ने विश्वकर्मा से अपना तेज कम करने को कहा। तेज कम करने के निमित्त विश्वकर्मा के यन्त्र-प्रयोग करते ही समस्त विश्व आकुल हो उठा। देवताओं ने प्रार्थना की कि वे अपनी इच्छा से अपने

तेज को न्यून करें। तदनुसार सूर्यदेव ने अपनी इच्छा से अपने तेज के पन्द्रह भाग कम कर दिये और उसका केवल सोलहवां भाग ही अपने पास रखा। विश्वकर्मा ने उनके मुक्त तेज से अस्त्र आदि अनेक उपयोगी वस्तुवों का निर्माण कर दिया। तेज कम हो जाने पर सूर्यदेव अश्व का रूप धारण कर उत्तर कुरु में अश्वा-रूपिणी संज्ञा के निकट गये। अश्वारूपिणी संज्ञा आते हुये अश्व को पर पुरुष समझ, सतीत्व-रक्षा को दृष्टि में रख पृष्ठ भाग का सम्पर्क बचाने के विचार से आगे बढ़ीं। दोनों की नासिकावों का संयोग हुआ। उससे नासत्य एवं दस्र नाम के दो पुत्र पैदा हुये। अश्वरूपी सूर्य का जो द्रवद्रव्य कामाग्नि से पिघल कर पृथ्वी पर गिरा उससे रेवन्त नाम का एक पुत्र पैदा हुआ। सूर्यदेव ने कृत्रिम रूप त्याग कर अपना सच्चा रूप प्रकट किया। संज्ञा ने भी पति को पहचान कर उनकी प्रसन्नता के लिये बनावटी रूप छोड़ कर अपने सच्चे रूप को धारण कर लिया। दोनों प्रसन्न हो उठे। सूर्यदेव ने कृमियों द्वारा यम के शत पैर का कुछ मांस पृथ्वी में गिरवा छाया-संज्ञा के शाप की पूर्ति कर पैर की रक्षा कर दी और उन्हें प्रजाजनों के धर्म-अधर्म का अधीक्षक तथा उनके दण्डव्यवस्था का अधिकारी बना दिया। यमुना उनके निर्देश से नदी बन कलिन्द के मध्य प्रवाहित हुई। अश्वा-रूपिणी संज्ञा से उत्पन्न दोनों कुमार पिता की आज्ञा से देवतावों के चिकित्सक हो अश्विनीकुमार नाम से प्रसिद्ध हुये और रेवन्त उन्हीं की आज्ञा से गुह्यकों का राजा हुआ। छाया-संज्ञा का ज्येष्ठ पुत्र सावर्णिक नाम से ख्यात हुआ। दूसरा पुत्र शनैश्चर नाम का ग्रह बना और कन्या जिसका नाम तपती था, कुरु देश के राजा संवरण से व्याही गई।

सूर्यदेव और संज्ञादेवी का ज्येष्ठ पुत्र वैवस्वत अनेक विद्यावों में पारंगत, महाप्रतापी और बड़ा यशस्वी था। उसने मनु का पद प्राप्त किया। इस समय उसी का मन्वन्तर चल रहा है।

आदित्य, वसु, रुद्र साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, भृगु और अङ्गिरा इस मन्वन्तर के देवगण हैं। ऊर्जस्वी इन्द्र हैं। अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि सप्तर्षि हैं। इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, दिष्ट, करूष, पृषध्न और वसुमान वैवस्वत मनु के इन नव पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश हैं।

८. सावर्णि—

सूर्यदेव से उत्पन्न छाया-संज्ञा का ज्येष्ठ पुत्र अपने समान-पितृक ज्येष्ठ भ्राता वैवस्वत मनु के समान प्रतापी सावर्णि नाम का आठवाँ मनु होगा। सुतपा, अमिताभ और मुख्य इस मन्वन्तर के देवगण होंगे। विरोचन के पुत्र, पाताल-

वासी बलि इन्द्र होंगे। राम, व्यास, गालव, दीप्तिमान्, कृप, ऋष्यशृङ्ग और अश्वत्थामा सप्तर्षि होंगे। विरजा, अर्ववीर, निर्मोह, सत्यवाक्, कृति और विष्णु आदि सावर्णि मनु के पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

९. दक्षसावर्णि—

दक्ष के पुत्र सावर्णि नवें मनु होंगे। उनके मन्वन्तर में पारामरीचि, भर्ग और सुधर्मा ये तीन देवगण होंगे। अग्निपुत्र षडानन जिनका नाम कार्तिकेय है, उस मन्वन्तर के इन्द्र होंगे, और उनका नाम अद्भुत होगा। मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन सप्तर्षि होंगे। धृष्टकेतु, बर्हकेतु, पञ्चहस्त, निरामय, पृथुश्रवा, अर्चिष्मान्, भूरिद्युम्न तथा बृहद्भय मनु के इन पुत्रों के वंश उस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

१०. धीमान्-ब्रह्मसावर्णि—

ब्रह्मा के पुत्र धीमान् दशवें मनु होंगे। उनके मन्वन्तर में सुख, आसीन और अनिरुद्ध ये तीन देवगण होंगे। शान्ति नाम के इन्द्र होंगे। आपोमूर्ति, हविष्मान्, सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिम और वशिष्ठ सप्तर्षि होंगे। सुक्षेत्र, उत्तमौजा, भूमिसेन, शतानीक, वृषभ, अनमित्र, जयद्रथ, भूरिद्युम्न और सुधर्मा मनु के इन पुत्रों के वंश उस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

११. धर्मसावर्णि—

धर्म के पुत्र सावर्णि ग्यारहवें मनु होंगे। उनके मन्वन्तर में विहङ्गम, कामग और निर्माणरति ये तीन प्रकार के देवता होंगे। महापराक्रमी वृष इन्द्र होंगे। हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋष्टि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव सप्तर्षि होंगे। सर्वत्रग, सुशर्मा, देवानीक, पुरुद्वह, हेमधन्वा और दृढायु मनु के इन पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

१२. रुद्रसावर्णि—

रुद्र के पुत्र सावर्णि बारहवें मनु होंगे। सुधर्मा, सुमना, हरित, रोहित और सुवर्ण ये पाँच प्रकार के देवता होंगे। महाबली ऋतधामा इन्द्र होंगे। द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति सप्तर्षि होंगे। देववान्, उपदेव, देवश्रेष्ठ, विदूरथ, मित्रवान् और मित्रवृन्द मनु के इन पुत्रों के वंश उस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

१३. रौच्य—

रुचि नाम का एक ब्राह्मण था। उसे मुक्ति प्राप्त करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। गृह-सम्पर्क को बन्धन समझ उसने विवाह नहीं किया। निरीह भाव से वह

पृथ्वी पर भ्रमण करता था। उसका यह ढंग देख उसके पितरों ने समझाया कि जो मनुष्य विवाह नहीं करता उसके देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण तथा लोक-ऋण के बन्धन नहीं टूटते, प्रत्युत वे अधिकाधिक दृढ़ होते रहते हैं। कर्मविमुख मनुष्य की अधोगति होती है। विहित कर्मों के परित्याग से पापों का संग्रह होता है। निष्काम कर्म के विना चित्तशुद्धि, विद्याप्राप्ति तथा संयमसिद्धि जो मोक्ष के लिये नितान्त अपेक्षित है, नहीं होती। यह निश्चय समझो कि कर्मत्याग मोक्ष का मार्ग नहीं अपितु निष्काम कर्म मोक्ष का मार्ग है। अतः तुम विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो। यदि ऐसा न करोगे तो तुम्हारा सारा मोक्ष-प्रयास व्यर्थ होगा। इस तथ्य के अवगत होने पर रुचि को पत्नी प्राप्त करने की कामना हुई। निर्धनता तथा वय की अधिकता के कारण पत्नी की प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी। अतः उस कामना की पूर्ति के लिये नियमपूर्वक सौ वर्ष तक उसने ब्रह्मा की आराधना की। ब्रह्मा ने प्रसन्न हो वर दिया कि तुम प्रजापति होकर प्रजा की सृष्टि करोगे तथा आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान कर अन्त में मुक्ति प्राप्त करोगे। वरदान के साथ ही उन्होंने यह भी निर्देश किया कि अब तुम अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये अपने पितरों का तर्पण करो। तृप्त पितरों की कृपा से ही तुम्हारी कामना पूर्ण होगी अन्यथा नहीं। ब्रह्मा जी की आज्ञा से नदी के निर्जन पुलिन में भक्ति-भाव से उसने पितरों का तर्पण और स्तवन किया। पितृगण प्रसन्न हो गये। उनके आशीर्वाद से नदी के निर्मल नीर से निकल प्रम्लोचा नाम की अप्सरा ने अपनी परम सुन्दरी नवयौवना कन्या मालिनी का उसके साथ विवाह कर दिया। उस स्त्री से एक महामेधावी, महाबलशाली पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम रौच्य रखा गया। यही तेरहवें मनु हैं। इस मन्वन्तर में सुधर्मा, सुकर्मा और और सुशर्मा ये तीन प्रकार के देवता होंगे। दिवस्पति इन्द्र होंगे। धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प सप्तर्षि होंगे। चित्रसेन्, विचित्र, नयति, निर्भय, दृढ, सुनेत्र, क्षत्रबुद्धि और सुव्रत मनु के इन पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

१४. भौत्य—

अङ्गिरा के शिष्य भूति बड़े क्रोधी तथा बड़े प्रभावशाली मुनि थे। सारी प्रकृति उनके तेज से प्रभावित थी। जड़, चेतन सभी उनका अनुवर्तन करते थे। उनके कोई पुत्र न था। पुत्र के लिये उन्होंने तपस्या भी की, पर पुत्र-प्राप्ति न हुई। एक बार उनके भाई सुवर्चा ने एक महान् यज्ञ ठाना और उसमें उन्हें आमन्त्रित किया। वे अपने शिष्य शान्ति को आश्रम में अग्नि को जाग्रत रखने के लिये सचेत कर यज्ञ में सम्मिलित होने चले गये। इधर एक दिन शान्ति को समिध् आदि लाने में कुछ देर हो जाने से आश्रम की अग्नि बुझ गई।

शान्ति आश्रम को अग्निहीन देख गुरु के क्रोधन स्वभाव का स्मरण कर त्रस्त हो गया। उसने भक्तिपूर्वक अग्निदेव की तीव्र आराधना और स्तुति की। अग्नि देव ने प्रसन्न हो उसकी माँग के अनुसार तीन वर दिये। एक तो यह कि आश्रम में अग्नि प्रज्वलित हो उठेगी। दूसरा यह कि उसके गुरु को मन्वन्तर के प्रतिष्ठापक महाप्रतापी पुत्र की प्राप्ति होगी और तीसरा यह कि गुरु का हृदय सब प्राणियों के प्रति कोमल हो जायगा। भाई का यज्ञ समाप्त हो जाने पर मुनि भूति आश्रम पर लौटे। आश्रम में प्रवेश करते ही अपने स्वभाव में उन्हें विचित्र परिवर्तन का अनुभव हुआ। कारण पूछने पर शिष्य ने सारा इतिवृत्त बता दिया। गुरु ने प्रसन्न हो वेद, वेदाङ्ग आदि सम्पूर्ण विद्यायें उसे पढ़ा दीं। थोड़े ही दिन बाद उनके एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम भौत्य रखा गया। ये भौत्य ही चौदहवें मनु हैं।

इस मन्वन्तर में चाक्षुष, कनिष्ठ, पवित्र, भ्राजिर और धारावृक ये पाँच देवगण होंगे। शुचि इन्द्र होंगे। अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शक्र और अजित सप्तर्षि होंगे। गुरु, गभीर, ब्रध्न, भरत, अनुग्रह, स्त्रीमाणी, प्रतीर, विष्णु, संक्रन्दन, तेजस्वी और सबल मनु के इन पुत्रों के वंश इस मन्वन्तर के राजवंश होंगे।

देवीतत्त्व–

देवी परम रहस्यमय एक अति निगूढ दुर्ज्ञेय तत्त्व हैं। इनके स्वरूप का याथातथ्येन परिचय पाना बड़ा कठिन है। शास्त्रों से ज्ञात होता है कि यह शेषशायी नारायण हरि की महामाया हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति इनका शरीर है। इनके शरीर के अङ्गभूत सत्त्व, रज और तम नामक गुणों से समस्त चेतन-अचेतन जगत् व्याप्त है। देव, असुर, गन्धर्व, राक्षस एवं मनुष्य की तो बात ही क्या? ब्रह्मा, विष्णु, महेश, परमेश्वर की यह त्रिमूर्ति भी इनकी महिमा के भीतर है, इनसे प्रभावित है और इन्हीं से रचित है। ब्रह्म, जिस आदि-अन्त हीन शाश्वत सूत्र में सृष्टि और प्रलय रूप श्वेत तथा श्यामवर्ण के पुष्पों से प्रपञ्च की यह महती माला ग्रथित हो रही है, स्वभावतः निर्गुण है। उसमें किसी प्रकार की गुण-वृत्ति का उदय नहीं हो सकता। अतः उस ब्रह्म को देवीतत्त्व का ज्ञान होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं, और जो सगुण ब्रह्म है वह तो देवी के अङ्गभूत गुणों से ही गठित है फिर उसे अपनी उद्भावयित्री भगवती का सन्धान-पता कैसे लग सकता है? मार्कण्डेय पुराण में ब्रह्मा का यह कथन सर्वथा सत्य है

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पाताऽत्ति यो जगत्।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः? ॥

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ? ॥

जगत् की रचना, रक्षा तथा संहार करनेवाले नारायण हरि को भी जो निद्रा के अधीन कर देती हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को जिनकी इच्छा से शरीर धारण करना पड़ता है उन महामहिमशालिनी महामाया की स्तुति कौन कर सकता है ?

समस्त जिज्ञासु जगत् महर्षि मार्कण्डेय का इस बात के लिये ऋणी है कि उन्होंने क्रौष्टुकि को श्रोता बना देवीतत्त्व के उस उपदेश को जिसे मेधा ऋषि ने राजा सुरथ और समाधि वैश्य को दिया था, जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया। यह उपदेश उपक्रम, उपसंहार सहित सप्तशती नाम से प्रख्यात है और मार्कण्डेय पुराण के ८१ से ९३ तक तेरह अध्यायों में वर्णित है। इस उपदेश से देवीतत्त्व के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सप्तशती के पहले अध्याय में जो मेधा ऋषि के अपने वचन हैं, उस अध्याय के अन्तिम भाग में ब्रह्मा द्वारा एवं चौथे, पाँचवें तथा ग्यारहवें अध्याय में देवताओं द्वारा जो देवी की स्तुति है उन सब से देवीतत्त्व का जो परिचय प्राप्त होता है वह इस प्रकार है।

देवी सत्त्व, रज और तम रूप प्रकृति तथा सत्, चित् और आनन्द रूप पुराण पुरुष की मिश्रित अयुतसिद्ध मूर्ति हैं। इन्हें केवल जड़ प्रकृति, माया, अविद्या, वासना, संवृति अथवा शुभाशुभ कर्मरूप अदृष्टात्मक शक्ति के रूप में देखना भूल है। यह चेतन एवं सक्रिय हैं। इनमें निग्रह और अनुग्रह का सामर्थ्य है। यह अनादि और अनन्त हैं। इनकी शक्ति अपार है। इनकी प्रभुता के समक्ष बड़े-बड़े ज्ञानी जनों की भी कुछ नहीं चलती। वे इनके हाथ के खिलौने हैं। ये ही चराचर जगत् का सृजन करती हैं, ये ही बन्ध और मोक्ष का कारण हैं। ये बड़े-बड़े ईश्वरों की भी ईश्वरी हैं। मेधा ऋषि का यह कथन अक्षरशः यथार्थ है कि—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥

(मा० पु० ८१ अ०)

देव, मानव कोई उन्हें अपनी शक्ति से नहीं जान सकता। वह अपनी कृपा, अपनी इच्छा से ही जानी जा सकती हैं। भौमसुख, स्वर्गसुख और मोक्षसुख सब कुछ उनके अनुग्रह से ही सुलभ होता है। इसी कारण मेधा ऋषि ने उनकी महिमा का उपदेश कर सुरथ और समाधि को उनकी आराधना के लिये प्रेरित किया था।

तामुपैहि महाराज! शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

कुछ लोगों का यह भाव हो सकता है कि जब देवी का स्वरूप इतना रहस्यमय और दुरूह है तो उन्हें बिना समझे उनकी आराधना कैसे हो सकती है? अन्धकार में हाथ फैलाने से क्या लाभ हो सकता है? पर इस भाव को प्रश्रय देना उचित नहीं है। यह भाव मानव को मार्गच्युत बना उसे अनर्थ के गर्त में गिरानेवाला है। वह परम करुणामयी महामाया जगत् की जननी हैं। मनुष्य उनका छोटा-सा शिशु है। शिशु को माता का इतिवृत्त भले न ज्ञात हो पर उसे पाना, उसकी मधुमय अङ्क में बैठना, उसके स्तन्यामृत का पान करना कठिन नहीं है। जैसे लोक की साधारण माँ अपने शिशु की पुकार को सुनते ही अधीर हो उसकी ओर दौड़ पड़ती है। उसका संकेत पाते ही अपने बलवान् बाहु से उठा उसे गले लगा लेती है। वैसे ही वह जगन्माता महामाया भी मानव की कातर पुकार सुनते ही, उसका अपनी ओर थोड़ा सा झुकाव होते ह उसे सर्वस्व दान देने को तयार रहती हैं।

मधुकैटभवध—

सप्तशती के प्रथम अध्याय के अन्त में यह कथा है कि जगत् जब अपनी विविधरूपता का परित्याग कर एक अर्णवाकार-केवल जलमय हो रहा था और श्रीविष्णु उसमें शेष की शय्या पर शयन कर रहे थे, तब उनके कान के मल से मधु, कैटभ नाम के दो राक्षस पैदा हुये। वे विष्णु के नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को मारने को उद्यत हुये। ब्रह्मा ने देखा कि सर्वत्राता विष्णु योगनिद्रा की गोद में निश्चिन्त पड़े हैं और वे स्वयं अपनी शक्ति से उन राक्षसों का प्रतीकार नहीं कर सकते। वे बड़ी चिन्ता में पड़ गये। उन्हें ध्यान आया कि जगत्पिता तो सो रहे हैं अवश्य, पर जगन्माता उस समय भी जाग्रत हैं, उन्हीं की पुकार करनी चाहिये। यह सोच उन्होंने माता का आवाहन किया। माता ने पुकार सुनी, जगत्पिता को जगा दिया। जागने पर उन्हें उन प्रबल राक्षसों से सहस्रों वर्ष युद्ध करना पड़ा। अन्त में वे थक गये। मोह ने उन्हें दुर्बल कर दिया। विष्णु के चक्र से उनका शिरश्छेद हुआ। ब्रह्मा के प्राण बचे।

बहुतों को यह कथा बड़ी अद्भुत तथा अनुपपन्न सी लगती है। जगत् के अर्णवाकार होने, शेष के ऊपर विष्णु के शयन करने, उनके कान में मैल होने, उससे दो राक्षसों के पैदा होने, उनसे ब्रह्मा के त्रस्त होने तथा उनके साथ विष्णु के चिरकाल तक युद्ध करने की बातें असंगत सी प्रतीत होती हैं। पर वास्तव में इसमें कोई असंगति वा असम्भावना नहीं है। जो अत्यन्त मुग्ध हैं, जिनकी प्रज्ञा नितान्त निम्नस्तर की है उन्हीं को इस वर्णन में अयुक्तता एवं दुर्घटता का आभास होता है। किन्तु जिन पर जगन्माता का किंचित् भी कृपाकटाक्ष पड़ा है। जिन के ज्ञानचक्षु में माता के मङ्गलमय चरण-रेणु की हल्की सी भी अञ्जन-शलाका लगी है। उनकी दृष्टि में यह सारा वर्णन सत्य, सुघट एवं सुसम्भव है। जिस महामाया के अनुभाव से उस अद्वय चिदाकाश में यह नाना रूपमय अद्भुत असीम जगत् खड़ा हो सका है उसे उक्त वर्णन की साधारण विषय वस्तु खड़ाकर सकने में क्या कठिनाई है?

असाधारण वर्षा तथा समुद्रों के तटभङ्ग से जगत् का एक अर्णवाकार हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। अधिकार के अवशेष रहने से शेष, विष्णु एवं ब्रह्मा के व्यवहार की प्रवर्तक-उपाधियों का अवस्थित रह जाना भी कोई असम्भावित घटना नहीं है। विष्णु का शरीर भी शरीर है और वह भी त्रिगुणात्मक ही है, अतः उस शरीर में कान होना तथा कान में मैल होना भी अस्वाभाविक नही है। अनेक जीवों के अयोनिज जन्म जगत् में नित्य होते रहते हैं, अतः उस मैल से मधु, कैटभ के अयोनिज शरीर का प्रादुर्भाव भी अशक्य नहीं है। इसी प्रकार उक्त वर्णन की शेष बातों की सम्भाव्यता भी बुद्धि से परे नहीं है। इसलिये स्पष्ट है कि जो लोग पामर जनों की भाँति जगत् के वर्तमान रूप को ही देखते हैं, इसके पूर्व और पर अवस्था का चित्र अपनी विचार-भित्ति पर खींचने की चेष्टा नहीं करते, उन्हें ही उक्त वर्णन में असंगति का आभास होता है।

अस्तु, यह तो हुई आधिभौतिक दृष्टि की चर्चा। इसके साथ ही उक्त कथा को आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से भी समझने का यत्न करना चाहिये। उसके अनुसार समस्त कार्य-प्रपञ्च के परम कारण में लय होने का नाम है जगत् का एकार्णवीभाव। विष्णु शब्द का अर्थ है व्यापक चैतन्य। शेष शब्द का अर्थ है विनश्वर श्रेणी का होते हुये भी एवं महाविनाश की सामग्री का सन्निपात होने पर भी बच जानेवाला पदार्थ, वह है जगत् का बीजभूत कर्म तथा ज्ञान-जनित जीव का संस्कार। उस जगद्बीज संस्कार-रूप शेष-शय्या पर व्यापक चैतन्य-रूप विष्णु का निष्क्रिय अर्थात् जगत् के व्यापार से हीन हो अवस्थित रहने का नाम है विष्णु की निद्रा। व्यापक चैतन्याकाश ही विष्णु-कर्ण है।

चैतन्य का त्रिगुणात्मक अविद्या रूप आवरण ही विष्णुकर्ण का मल है। इस मल से उद्भूत होनेवाला अहम्बोध और बहुभवन की इच्छा ही मधु, कैटभ नाम के असुर हैं इनके द्वारा मन को संसृरोन्मुख बनाने का उपक्रम ही ब्रह्मा को मारने के लिये मधु, कैटभ का उद्यत होना है। इस संकट की स्थिति में मन रूप ब्रह्मा चिन्मयी महामाया की यदि पुकार करता है तो वे प्रसन्न हो चैतन्यात्मक विष्णु की आवरण रूप निद्रा का भङ्ग कर देती हैं। फिर अनावृत चैतन्य रूप प्रबुद्ध विष्णु अहंबोध तथा बहुभवनाभिलाष-रूप मधु, कैटभ का वध करते हैं और तब मन का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। वह संसारोन्मुखता को त्याग अध्यात्म के उन्मुख हो अपनी सफल यात्रा में समर्थ होता है।

ऐसे ही एक दूसरे प्रकार से भी इस कथा को समझा जा सकता है। जैसे नित्य और अनित्य का विवेक लुप्त हो जाने से, विहित तथा निषिद्ध के विवेचन की क्षमता खो जाने से एवं जीवन की पूर्वोत्तर अवस्था की स्पष्ट तथा सत्य कल्पना का लोप हो जाने से समस्त जगत् को किसी एक एकाङ्गी दृष्टि से ही देखे जाने का नाम जगत् का एकार्णवीभाव है। जैसे सामान्य जन अर्णव को केवल एक अगम अगाध जलराशि मात्र समझता है। उसके भीतर के रत्न, मणि, मुक्ता आदि बहुमूल्य पदार्थों का उसे कोई पता नहीं होता। उसी प्रकार यह संसार भी उसे एकमात्र अनित्यात्मक ही प्रतीत होता है। उसे उस सनातन सत्य अद्वय तत्त्व का, जिसके असीम कलेवर पर यह विपुल विश्व चित्रित हुआ है, कोई आभास नहीं होता। बस, इसी दृष्टि से देखे जाते हुये जगत् को ही एकार्णवीकृत जगत् कहा जाता है। व्यापक होने से जीव ही यहाँ विष्णु शब्द से कथित हुआ है। प्रलय काल में भी शेष रह जाने से जीव के शुभाशुभ कर्मों को ही शेष कहा गया है। अतः शेष पर विष्णु के शयन करने का अर्थ है कर्मों के फल भोग में फँस कर बेसुध हो जाना, असावधान हो जाना। अध्यात्म के अभिमुख उठने तथा अग्रसर होने की चेष्टा करनेवाला मन ही ब्रह्मा है। उसे अध्यात्म के मार्ग से गिरा, संसार की ओर उसका आकर्षण करना ही उसका हनन है। यह होता है राग और द्वेष से। अतः राग और द्वेष ही मन रूप ब्रह्मा का हनन करनेवाले मधु और कैटभ हैं, जिनका जन्म विष्णु-कर्ण के मल से अर्थात् कर्म-फलासक्ति की निद्रा में पड़ असावधान हुए जीव के कानों की मैल से होता है। यह मैल क्या है? यह है संसारी जीव के मित्रम्मन्य लोगों का सम्मतिवाक्य।

कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य नित्यानित्य का विवेक खोकर प्रेयोमात्रदृष्टिक हो कर्म के फल-भोगों में फँस असावधान हो जाता है उस

समय उसके पास-पड़ोस के लोग, उसके साथ खाने-खेलनेवाले लोग जो कुछ उसके कानों में कहते हैं उससे वह किसी को अपने अनुकूल और किसी को अपने प्रतिकूल समझ उनसे राग, द्वेष कर लेता है। ये राग, द्वेष उसके सन्मार्गोन्मुख मन को बरबस संसार के असन्मार्गों की ओर आकृष्ट करते हैं। उस समय मन यदि जगन्माता महामाया की शरण में जाता है तो वे कृपाकर फल-भोग में फँसे मानव को सचेत कर देती हैं। फिर सचेत मानव अभ्यास और वैराग्य रूप बाहुओं से राग, द्वेष के साथ युद्ध करता है और अन्त में उन्हें पराजित कर मन का साधनामार्ग प्रशस्त कर देता है।

महिषासुरवध—

प्राणी का अस्तित्व देह तक ही सीमित है। देह के जन्म के साथ उसका जन्म तथा देह की मृत्यु के साथ ही उसकी मृत्यु होती है। देह के पहले या बाद उसका किसी प्रकार का कोई अस्तित्व नहीं रहता। विषय सुख ही परम सुख है और प्रभुत्व का अधिकाधिक विस्तार ही उस सुख का उपाय है। किसी भी प्रकार उसका सम्पादन ही परम पुरुषार्थ है। इससे परे न कोई वस्तु है और न इससे अधिक किसी को कुछ करना है। इस प्रकार के विचार ही असुर हैं और इन विचारों की पुष्टि एवं बल-वृद्धि जिससे हो वही इनका अधिपति महिषासुर है। और वह है तामस अहम्भाव। यह अहम्भाव उक्त विचार-रूप अपने असुर सैनिकों द्वारा सद्विचार-रूप सुरों को पराजित कर उनके स्वामी विवेक-रूप इन्द्र को पदच्युत कर सत्त्व-रूप स्वर्ग पर अपना अधिकार स्थापित करता है।

महिषासुर का अन्त करने के लिये देवी को अवतीर्ण होना पड़ता है। पदच्युत इन्द्र और पराजित देव उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। स्वयं भगवती को भी इसे पछाड़ने के लिये महान् समारम्भ करना पड़ता है। जब समस्त देवताओं के तेज एकलक्ष्य हो एकत्रित होते हैं और उनके संगठित रूप का नेतृत्व भगवती के कर कमलों में अर्पित कर देवताओं के सारे साधन उन्हें सौंप दिये जाते हैं, तब वे महिषासुर का वध करने को प्रस्तुत होती हैं। पहले उस अहम्भाव के पोषक दुर्विचार-रूप असुर-सैनिकों का वे वध करती हैं। सेना का संहार देख देवी पर आक्रमण करने के हेतु विभिन्न रूपों में अहम्भाव खड़ा होता है, किन्तु देवी के समक्ष उसकी कुछ नहीं चलती। अन्त में उनकी चमचमाती तलवार से उसका शिरश्छेद हो जाता है।

असुराधिप अहम्भाव के गिरते ही देवताओं में आनन्द की लहर दौड़ जाती है। सत्त्व-स्वर्ग पर पुनः विवेक-इन्द्र का राज्य प्रतिष्ठित होता है।

शुम्भ-निशुम्भवध–

सप्तशती के पाँचवें अध्याय से दशवें अध्याय तक देवी द्वारा शुम्भ तथा निशुम्भ एवं उनकी सेना के संहार का वर्णन है। इस वर्णन का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इस प्रकार है।

शुम्भ का अर्थ है अहंकार और अहंकार का अर्थ है शरीर आदि अनात्म वस्तुवों में आत्मरूपता का भ्रम। इस अहंकार के अनन्तर ममकार अर्थात् ममत्वाभिमान का जन्म होता है। यह ममकार ही निशुम्भ है। अहंकार-रूप शुम्भ का अनुजन्मा होने के कारण इसे शुम्भ का अनुज कहा गया है।

इस शुम्भ और निशुम्भ के भृत्य हैं चण्ड और मुण्ड अर्थात् काम तथा क्रोध। ये तुहिनाचल पर संस्थित देवी को अर्थात् नित्य निर्मल आत्म तत्त्व को विषय-विधया आश्रय बनाने वाली बुद्धि को शुम्भ-निशुम्भ अर्थात् अहंकार एवं ममकार की अनुगामिनी बनाना चाहते हैं। उसे आत्मसात् करने के लिये ये शुम्भ-निशुम्भ को उसकाते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि बुद्धि यदि अहंकार और ममकार का साथ दे दे, उनका अनुवर्तन करने लगे तो फिर आसुरी सेना अजेय हो जाय। देवगण कदापि शिर न उठा सके और स्वर्ग अर्थात् सत्त्व-अन्तःकरण पर सदा के लिये असुर-राज्य प्रतिष्ठित हो जाय।

चण्ड, मुण्ड की प्रेरणा से प्रभावित हो शुम्भ एक दूतद्वारा देवी के पास प्रणय सन्देश भेजता है। इस दूत का नाम सुग्रीव है। यह सुग्रीव कौन है? यह है दम्भ। इसका स्वभाव है कपटमय कृत्रिम वर्णनों द्वारा मिथ्या उत्कर्ष का विज्ञापन। अपने इस स्वभाव के अनुसार यह दूत शुम्भ, निशुम्भ की विविध महिमा का गान कर देवी को उनकी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करता है किन्तु उनके समक्ष उसकी कुछ नहीं चलती। वह स्पष्ट कह देती हैं।

> यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
> यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥

जो व्यक्ति युद्ध में मुझे जीत लेगा, मेरे दर्प को दूर करेगा, जो संसार में मुझ से बलवान् होगा, वही मेरा भर्ता हो सकेगा। दूत असफल हो शुम्भ-निशुम्भ के पास लौट जाता है और उन से देवी के दृढ दर्प का वर्णन करता है।

अपने सन्देश की उपेक्षा और देवी की अभिमान भरी बात से शुम्भ रुष्ट हो जाता है और उन्हें बलपूर्वक पकड़ लाने के लिये दैत्यों के अधिप धूम्रलोचन को आदेश देता है। यह धूम्रलोचन कौन है? यह है लोभ। विवेक-रूपलोचन के लिये धुवाँ के समान होने के कारण इसे धूम्रलोचन कहा गया है। इसका स्वभाव

है धर्मविरुद्ध मार्ग से, अनैतिक ढंग से किसी वस्तु पर अधिकार करना। यह अपने स्वामी शुम्भ-अहंकार की आज्ञा से देवी के निकट जाता है, पर तुहिनाचल-स्थिता देवी अर्थात् शुभ्र शाश्वद्व आत्म-परायणा बुद्धि एक हुँकार से ही इसे नष्ट कर देती है। ठीक ही है, आत्मोन्मुखी बुद्धि पर लोभ का क्या बल चल सकता है?

लोभ का अभिभव सुन दैत्याधिपति शुम्भ अत्यन्त कुपित हो उठता है और प्रचण्ड पराक्रमशाली काम क्रोध-रूप चण्ड, मुण्ड को आज्ञा देता है कि वे अविलम्ब देवी के पास जाँय और उसका केश पकड़ कठोरतापूर्वक उसे खींच लायें। चण्ड-मुण्ड बड़े अभिमान से देवी के निकट जाते हैं, अनेक प्रकार के आघात प्रतिघातों से उन्हें अभिभूत करने का प्रयत्न करते हैं। पर उनका कोई प्रयत्न सफल नहीं होता और अन्त में वे देवी की दमकती तलवार से अर्थात् बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बित आत्म चैतन्य से काल के कवल बन जाते हैं।

चण्ड, मुण्ड के वध का समाचार सुन शुम्भ की क्रोधाग्नि भभक उठती है वह समस्त असात्त्विक विचार-रूप असुरों की महती सेना देवी से युद्ध करने के निमित्त भेजता है। ये सारे असुर देवी को आ घेरते हैं। इसे देख सारी बड़ी देव-शक्तियाँ अर्थात् समस्त श्रेष्ठ सात्त्विक वृत्तियाँ देवी की सहायता के लिये उठ खड़ी होती हैं। उनके प्रखर तेज एवं गम्भीर आघात से आसुरी सेना में भगदड़ मच जाती है। असुरों का यह कातरतापूर्ण पलायन देख महाराक्षस रक्तबीज क्रुद्ध हो उठता है और युद्ध के लिये संग्रामभूमि में स्वयं अवतीर्ण होता है।

रक्तबीजवध—

रक्तबीज एक विचित्र राक्षस है इसे जितना ही मारा जाता है, उतना ही इसका बल बढ़ता है। इस के शरीर से रक्त के जितने बूँद पृथ्वी पर गिरते हैं इसके समान बल-विक्रमशाली उतने ही नये असुर पैदा हो जाते हैं। यह राक्षस रक्तबीज कौन है? यह है विषयाभिलाष। जिस प्रकार रक्त से शरीर का पोषण होता है उसी प्रकार विषयों से विषयी अभिलाष का भी पोषण होता है। इस प्रकार विषय ही इसके रक्त हैं और चित्तभूमि में विषयोपभोग का होना ही रक्त-पात है। अधिकाधिक रक्तपात से अधिकाधिक रक्तबीज के जन्म का अर्थ है अधिकाधिक विषयोपभोग से अधिकाधिक विषयाभिलाष की वृद्धि।

इस अद्भुत राक्षस का वध अन्य राक्षसों के वध के समान सुकर नहीं है। इसे प्रत्यक्ष आघात-द्वारा नहीं मारा जा सकता। इस पर विजय पाने की समस्या

बड़ी टेढ़ी है। यदि विषयोपभोग को रोक दिया जाय तो शरीर का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय और तब फिर मानव के सारे मनोरथ ही भग्न हो जाँय, साधना के समस्त सोपान ही टूट जाँय, जीवन की समग्र योजनायें ही धूलिसात् हो जांय। और यदि इस विपत्ति से बचने के निमित्त विषयोपभोग को चलने दिया जाय तो उससे विषयाभिलाष की निरन्तर वृद्धि एवं पुष्टि होती रहेगी। फलतः वह किसी न किसी दिन बुद्धि-देवी को तुहिनाचल-शुभ्र अडिग आत्मज्योति से गिराकर बलात् शुम्भ-अहंकार की अनुगामिनी बना देगा। अतः इसे मारने के लिये देवी को युक्ति-रचना करनी पड़ती है। काली की सहायता लेनी पड़ती है। वे काली को निर्देश करती हैं कि उनके शस्त्रघात से इस राक्षस के शरीर से जो रक्त निकले उसे वे मुख में ले लें। भूमि पर न गिरने दें। जिससे नये रक्त-बीज की उत्पत्ति न हो सके और वह राक्षस उनके शस्त्रों से आहत हो मृत्यु का ग्रास बन जाय। काली इस निर्देश का पालन करती हैं। देवी रक्तबीज पर शस्त्र प्रहार करती हैं। उसके जीवन का अन्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि विषय का सर्वथा त्याग कर विषयाभिलाष को नहीं मिटाया जा सकता। शरीररक्षार्थ आवश्यक विषयों का उपभोग करना ही होगा। पर यह किसी ऐसे ढंग से किया जाना चाहिये जिससे विषय का आवश्यक सेवन भी हो और विषयाभिलाष शनैः शनैः क्षीण भी होता चले। यह काम अशक्य या असम्भव नहीं है। थोड़ा सा ध्यान देने से ही काम बन सकता है। बात यह है कि विषयोपभोग में दो अंश होते हैं। एक है विषय का उपयोग और दूसरा है विषय में प्रियत्व, श्रेष्ठत्व तथा सौन्दर्य की भावना। शरीर की रक्षा के लिये विषय का उपभोग अपेक्षित है न कि उक्त भावना। और उक्त भावनासे ही विषयोपभोग—विषयाभिलाष का बीज बनता है। अतः काली अर्थात् विषय में अप्रियत्व, हीनत्व तथा असौन्दर्य की भावना जब उक्त अभव्य भावना को मुखस्थ कर लेती है तब जैसे भूने हुए बीज से अङ्कुर नहीं पैदा होता वैसे उक्त भावना से हीन विषयोपयोगमात्र से विषयाभिलाष का जन्म नहीं होता। और फिर बुद्धि के शस्त्रप्रयोग से विषयाभिलाष समाप्त हो जाता है। यही है देवी के हाथ रक्तबीज का वध।

रक्तबीज के वध के बाद शुम्भ का अनुज महाबलशाली निशुम्भ अर्थात् ममकार-ममत्वाभिमान का युद्ध होता है। यह ममत्व ही सारे अनर्थों की जड़ है। मानव की ममता जिसमें हो जाती है उसमें वह आसक्त हो जाता है, अनुरक्त हो जाता है। उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसकी रक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लेता है। ममता की वस्तु के प्रतिकूल जो कोई खड़ा होता है वह मनुष्य का द्वेष्य हो जाता है। शत्रु हो जाता है। उसे पराजित कर अपनी ममता की वस्तु

के रक्षणार्थ वह भिन्न-भिन्न प्रकार के भले बुरे उपाय करता है। ममता एक दुर्जेय दीर्घ आवरण है। यह जिस जड़ या सजीव वस्तु पर स्थापित हो जाती है, उसके सारे दोष, सारे दुर्गुण, सारी बुराइयाँ छिपा देती है और उसमें अनेक गुण, अनेक अच्छाइयाँ आरोपित कर उसमें मनुष्य के मन को इतनी दृढ़ता से बांध देती है कि उस बन्धन को तोड़ना सहस्रों जन्मों की एक जटिल समस्या बन जाती है। ममता एक महान् वृक्ष है। 'मैं' उसका अंकुर है। 'मेरा' उसका विशाल स्कन्ध-तना है। महल और भूमि उसकी बड़ी शाखायें हैं। पुत्र, कलत्र आदि उसके पल्लव हैं। धन, वाहन, अन्न, वस्त्र आदि उसके बड़े बड़े पत्ते हैं। पुण्य और पाप उसके फूल हैं। सुख और दुःख उसके फल हैं। अनेक प्रकार के मनोरथ उस पर मंडराने वाले भ्रमर हैं। मानव का चित्त उसके उगने की भूमि है। संसार-यात्रा में थक कर मनुष्य उसकी छाया में बैठते हैं और भ्रमवश विश्राम-सुख का अनुभव करते हैं। यही ममत्व शुम्भ अर्थात् अहंकार का अनुज है जो विषयाभिलाष-रूप रक्तबीज का पतन सुन स्वयं देवी के साथ संग्राम में उतरता है। पर देवी—अध्यात्म में दृढ़ता से लगी बुद्धि इस नीच निशुम्भ का वध कर डालती है।

निशुम्भ का वध हो जाने पर शुम्भ को बड़ा क्रोधावेश हो जाता है और वह अपनी सारी शक्ति तथा समस्त बल के साथ रणस्थली में उतर पड़ता है। देवी के साथ उसका भीषणतम युद्ध होता है। अनेक आकार धारण कर वह देवी पर बहुविध प्रहार करता है। अनेक विषयों का आलम्बन कर अहंकार आत्मोन्मुखी बुद्धि को विचलित करने का प्रयास करता है। पर देवी के समक्ष उसकी एक भी नहीं चलती। चले भी कैसे ? क्योंकि दोनों की शक्ति और साधन में बड़ा अन्तर है। देवी का वाहन अर्थात् बुद्धि का आलम्बन सिंह मृगराज-पशुपति अर्थात् परमात्मा है और शुम्भ का वाहन अर्थात् अहंकार का आलम्बन भौतिक रथ-भौतिक शरीर है। देवी-बुद्धि के शस्त्रास्त्र सद्गुण एवं सद्विचार हैं और शुम्भ-अहंकार के शस्त्रास्त्र दुर्गुण एवं दुर्विचार हैं। इस प्रकार देवी अत्यन्त समर्थ और शुम्भ उनकी अपेक्षा अत्यन्त असमर्थ है। फलतः शुम्भ का वध हो जाता है। देवी विजयश्री से उल्लसित हो उठती हैं। देवराज्य निष्कण्टक हो जाता है। इन्द्र अपने राज्य पर पुनः प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनका साहाय्य एवं संरक्षण पा मानव अपने महान् मंगलमय लक्ष्य की साधना में निर्भय भाव से अग्रसर होता है।

सूर्यतत्त्व—

सूर्य भारतवर्ष के परम आराध्य देवता हैं। सूर्योपासना, सूर्यव्रत आदि का प्रचलन यहाँ बहुत पुरातन काल से है। हिन्दू समाज की सभी श्रेणी के लोग

अपनी श्रद्धा एवं शक्ति के अनुसार सूर्य की आराधना, सूर्य के नमन, पूजन, स्तवन आदि द्वारा उनका प्रसादन करते हैं। नैरुज्य, स्वास्थ्य, शक्तिसंचय, साहस, उत्साह, पराक्रम तथा दीर्घजीवन की प्राप्ति के निमित्त, जप, तप, व्रत, आदि विधियों से उनकी प्रसन्नता का सम्पादन किया जाता है। इस देश के लाखों नर-नारी रविवारको प्रातःकाल स्नान आदि नित्यकर्मों से निवृत्त हो अर्घ्य, धूप, दीप, नैवेद्य आदि उपचारों से उनका पूजन करते हैं। व्रत करते हैं। मध्याह्न के समय कोई एक ही वस्तु थोड़ी सी मात्रा में खाते हैं। भोजन में नमक का त्याग करते हैं। दिन में शयन नहीं करते। रात में भोजन एवं जल ग्रहण नहीं करते। सूर्य-नमस्कार तो अनेकों का प्रतिदिन का अनिवार्य कर्म है। इससे स्वास्थ्य, शक्ति तथा आरोग्य का लाभ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय जीवन में सूर्योपासना का महान् स्थान है। और यह भी कुछ सीमित शताब्दियों या सहस्राब्दियों से नहीं किन्तु सृष्टि के आदिकाल से है। यही कारण हैं कि भारत के वेद, पुराण आदि प्राचीन साहित्य में सूर्य की महिमा का विस्तृत एवं विशद विवेचन प्राप्त होता है। इस लेख में मार्कण्डेय पुराण के आधार पर सूर्य के सम्बन्ध में थोड़ी सी चर्चा की जा रही है। उस पुराण के एक सौ एकवें अध्याय में कहा गया है कि—

पहले यह सम्पूर्ण लोक प्रभाहीन तथा प्रकाश से शून्य था। चारो ओर घोर अन्धकार का घेरा पड़ा था। उस समय एक बृहत् अण्ड प्रकट हुआ। वह अण्ड अविनाशी तथा परम कारण-रूप है। उसके भीतर सबके प्रपितामह, समस्त ऐश्वर्य के आश्रय, जगत् के स्रष्टा एवं स्वामी, कमलयोनि ब्रह्माजी स्वयं विराजमान थे। उन्होंने उस अण्ड का भेदन किया। अण्ड का भेदन होते ही उनके मुख से 'ओम्' यह महान् शब्द उत्पन्न हुआ। उसके बाद क्रम से भूः, भुवः; स्वः ये तीन व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। ये व्याहृतियाँ सूर्यदेव के स्वरूप हैं। फिर 'ओम्' शब्द से रवि का परम सूक्ष्म रूप प्रकट हुआ और उसके बाद क्रम से स्थूल, स्थूलतर आदि परिमाणों से युक्त मह, जन, तप और सत्य प्रकट हुये। भूः से लेकर सत्य पर्यन्त ये सातो सूर्यदेव के मूर्तरूप हैं।

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते।
बृहदण्डमभूदेकमक्षरं कारणं परम्॥
तद्बिभेद तदन्तःस्थो भगवान् प्रपितामहः।
पद्मयोनिः स्वयं ब्रह्मा यः स्रष्टा जगतां प्रभुः॥
तन्मुखादोमिति महानभूच्छब्दो महामुने!
ततो भूस्तु भुवस्तस्मात्ततश्च स्वरनन्तरम्॥

एता व्याहृतयस्तिस्रः स्वरूपं तद्विवस्वतः।
ओमित्यस्मात्स्वरूपात्तु सूक्ष्मरूपं रवेः परम्॥
ततो महरिति स्थूलं जनं स्थूलतरं ततः।
ततस्तपस्ततः सत्यमिति मूर्तानि सप्तधा॥

अण्डभेद होने पर ओंकार का प्राकट्य होते ही एक ओर तो उससे भूः आदि सूर्यके सात मूर्तरूपों का प्रादुर्भाव हुआ और दूसरी ओर उसी से तेजोमय ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व इन चार वेदोंका आविर्भाव हुआ। तदनन्तर ये सारे वैदिक तेज ओंकार-रूप परम तेज के साथ मिल गये। जिसके फलस्वरूप एक महान् तेजःपुञ्ज अस्तित्व में आया और वह सबके आदि में होने के कारण आदित्य कहलाया। वही तेज समस्त विश्व का कारण एवं स्वयं अव्यय है।

ततस्तन्मण्डलीभूतं छान्दसं तेज उत्तमम्।
परेण तेजसा ब्रह्मन्! एकत्वमुपयाति तत्॥
आदित्यसंज्ञामगमदादावेव यतोऽभवत्।
विश्वस्य हि महाभाग! कारणं चाव्ययात्मकम्॥

भगवान् सूर्यदेव वेदात्मा, वेद में स्थित, वेदविद्यास्वरूप तथा परमपुरुष कहलाते हैं। ये सनातन सूर्य ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण के आश्रय से ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र की संज्ञा प्राप्त करते हैं और ये ही उन रूपोंसे गुणों द्वारा जगत् की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करते हैं।

तदेवं भगवान् भास्वान् वेदात्मा वेदसंस्थितः।
वेदविद्यात्मकश्चैव परःपुरुष उच्यते॥
सर्गस्थित्यन्तहेतुश्च रजःसत्त्वादिकान् गुणान्।
आश्रित्य ब्रह्मविष्ण्वादिसंज्ञामभ्येति शाश्वतः॥

भगवान् सूर्य सदा देवताओं से स्तवन करने योग्य हैं। वेदमूर्ति हैं। वास्तव में उनकी कोई मूर्ति नहीं है। वे सबके आदि हैं। सारे मर्त्य भाव उनके स्वरूप हैं। वे जगत् के आश्रय एवं ज्योति-रूप हैं। उनका तत्त्व अज्ञेय है। वे वेदान्त के एकमात्र प्रतिपाद्य परात्पर ब्रह्म-स्वरूप हैं।

देवैः सदेड्यः स तु वेदमूर्तिरमूर्तिराद्योऽखिलमर्त्यमूर्तिः।
विश्वाश्रयं ज्योतिरवेद्यधर्मा वेदान्तगम्यः परमः परेभ्यः॥

सूर्यदेव के उस महान् तेजोमण्डल के प्रकट होने पर उसके प्रचण्ड तेज से नीचे और ऊपर के समस्त लोक सन्तप्त होने लगे। यह देख ब्रह्माजी

को चिन्ता हुई कि यह तेजः पुञ्ज यदि इसी प्रकार अनवरत तपता रहेगा तो उसके सामने उनकी बनायी सृष्टि एक क्षण भी न टिक सकेगी। सारे जीव ताप के मारे निष्प्राण हो जायँगे। सारा जल सूख जायगा। फिर जल के विना जगत् का जन्म एवं जीवन कैसे हो सकेगा? यह सोच कर लोक-पितामह ब्रह्मा जी ने अत्यन्त तन्मय हो भगवान् सूर्य की स्तुति की। वह स्तुति सूर्यदेव के कतिपय तथ्यों पर प्रकाश डालती है। उसमें समस्त जगत् को सूर्यमय तथा सूर्यको सर्वजगन्मय कहा गया गया है। विश्व को उनकी मूर्ति बताया गया है। योगी जन योगाभ्यास-द्वारा जिस ज्योति का दर्शन पाने की अहर्निश चेष्टा करते हैं, उस परम ज्योति के रूप में उसका वर्णन किया गया है। उन्हीं को पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के रूप से समस्त भौतिक जगत् का उत्पादक कहा गया है। उन्हें उस आद्या शक्ति का आश्रय बताया गया है, जिसकी प्रेरणा से ही जगत् के निर्माण का उपक्रम होता है। उन्हें समस्त यज्ञों द्वारा परमात्मज्ञ पुरुषों का यजनीय, समस्तयज्ञमय विष्णु का स्वरूप, यति जनों की सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों का मुख्य आलम्बन, मुमुक्षुजनों का सर्वेश्वर परतत्त्व बताते हुये देव, यज्ञ तथा योगियों की साधना के विषयभूत परब्रह्म के रूप में नमस्कार किया गया है।

यज्ञैर्यजन्ति परमात्मविदो भवन्तं
विष्णुस्वरूपमखिलेष्टिमयं विवस्वान्!
ध्यायन्ति चापि यतयो नियतात्मचित्ताः
सर्वेश्वरं परममात्मविमुक्तिकामाः॥
नमस्ते देवरूपाय यज्ञरूपाय ते नमः।
परब्रह्मस्वरूपाय चिन्त्यमानाय योगिभिः॥

दिति एवं दनु के पुत्र दैत्य और दानवों द्वारा अपने पुत्रों देवताओं का पराजय हो जाने पर कश्यप की पत्नी दक्षपुत्री अदिति ने भी अपने पुत्रों को विजय दिलाने के निमित्त सूर्य देव की स्तुति की थी। उस स्तुति से भी सूर्य के सम्बन्ध में बहुत सी बातों की जानकारी होती है। उसमें सूर्य को परम सूक्ष्म सुवर्णमय शरीर का धारक तथा सब प्रकार के तेजों का शाश्वत केन्द्र कहा गया है। किरणों द्वारा पृथ्वी के जल तथा सोमरस का आकर्षण कर जगत् के उपकारार्थ जल-वृष्टि करने वाले मेघ के रूप में उनका वर्णन किया गया है। उन्हें समस्त ओषधियों का पकाने वाला, हिम पिघला कर अनेक प्रकार के सस्यों का सम्पादन करने वाला, वसन्त आदि ऋतुओं में श्री एवं सौन्दर्य का आधान करने वाला, सभी चेतन-अचेतन प्राणियों को जीवनामृत देने वाला, देव एवं पितरों

को तृप्तिदान करने वाला बताया गया है। जगत् के अग्निमय एवं सोममय रूप को निष्पन्न करने वाले अर्क तथा चन्द्र शब्द से व्यवहृत तीव्र और सौम्य दो विरोधी रूपों के समन्वय का आधारस्थल भी उन्हें कहा गया है। अन्त में 'ओम्' शब्द का वाच्य सूक्ष्म, अनन्त एवं निर्मल सद्रूप बताकर नमस्कार किया गया है।

यत्तु तस्मात्परं रूपमोमित्युक्त्वाऽभिशब्दितम्।
अस्थूलानन्तममलं नमस्तस्मै सदात्मने ॥

सूर्यदेव को प्रसन्न करने के निमित्त उनकी स्तुति करते हुये निराहार रह कर अदिति ने चिर काल तक कठिन तपस्या की। फिर प्रसन्न हो सूर्य देव ने अदिति को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। अदिति ने देखा कि आकाश से पृथ्वी तक तेज का एक महान् पुञ्ज स्थित है। उससे अनन्त उद्दीप्त उग्र ज्वालायें फूट फूट कर चारो ओर फैल रही हैं। जिसके कारण उस तेज की ओर देखना दुष्कर हो रहा है। यह देख अदिति को बड़ा भय हुआ। वे बोलीं—

गोपते! आप मुझ पर प्रसन्न हों। मैं पहले जिस प्रकार आप को देखती थी उस प्रकार आज नहीं देख पा रही हूँ। इस समय पृथ्वी पर तेज का एक अत्यन्त विशाल समुदाय दिखाई पड़ रहा है। दिवाकर! मुझ पर कृपा कीजिये, जिससे मैं आपका दर्शन कर सकूँ। प्रभो! आप भक्त-वत्सल हैं। मुझ भक्त पर अनुग्रह कर मेरे पुत्रों की रक्षा कीजिये। आप ही ब्रह्मा बन इस विश्व की सृष्टि करते हैं। आप ही विष्णुरूप से इसकी रक्षा करते हैं और अन्त में यह सारा जगत् आप के ही रुद्ररूप में प्रलीन होता है। सम्पूर्ण लोक में आपको छोड़ दूसरी कोई गति नहीं है। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, वायु, चन्द्रमा, अग्नि, आकाश, पर्वत और समुद्र हैं। आपका तेज सब की आत्मा है। यज्ञपते! अपने कर्मों में लगे ब्राह्मण प्रतिदिन आपका स्तवन एवं यजन करते हैं। अपने चित्त को अपने वश में रखने वाले योगी जन योगाभ्यास-द्वारा निरन्तर आप का ही ध्यान करते हुये परम पद को प्राप्त करते हैं। आप ही विश्व को ताप देते, उसे पकाते, उसकी रक्षा करते और उसे भस्म करते हैं। आप ही अपनी गर्म किरणों द्वारा उसे प्रकट करते और आनन्द देते हैं। कमलयोनि ब्रह्मा के रूप में आप ही सृष्टि करते हैं। अच्युत नाम से आप ही पालन करते हैं और कल्पान्त में रुद्र बन आप ही सम्पूर्ण जगत् का संहार करते हैं।

तपसि पचसि विश्वं पासि भस्मीकरोषि
प्रकटयसि मयूखैर्ह्लादयस्यम्बुगर्भैः।
सृजसि कमलजन्मा पालयस्यच्युताख्यः
क्षपयसि च युगान्ते रुद्ररूपस्त्वमेव ॥

अदिति की प्रार्थना पर सूर्य देव ने परम कमनीय तेजोमय रूप में अपना दर्शन दिया। दर्शन पा अदिति धन्य हो गईं। उनकी कामना के अनुसार सूर्य देव ने उनके गर्भ से जन्म लिया। देवों का दैत्य, दानव आदिकों से युद्ध कराया और अपने उग्र तेज से सम्पूर्ण देवशत्रुओं को भस्म कर देवताओं को विजयी बनाया।

अदितिपुत्र मार्तण्ड ने विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा देवी से विवाह कर वैवस्वत मनु, यमुना नदी और यमराज को जन्म दिया। उनके प्रचण्ड तेज को सहने में असमर्थ होने के नाते अपने स्थान में अपनी छाया को छोड़कर संज्ञा देवी उनके निकट से चली गईं और पतिदेव के तेज को सौम्य एवं सह्य रूप में परिवर्तित देखने की कामना से तपस्या करने लगीं। जब सूर्य देव को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने अपने श्वशुर विश्वकर्मा से अपना तेज कम करने के लिये कहा। विश्वकर्मा यन्त्र पर चढ़ा कर उनके तेज की छटनी करने लगे। छटनी करते समय उनका तेजोमय शरीर भभक उठा। धधकती ज्वालायें निकलने लगीं। सारा विश्व परितप्त और पर्याकुल हो उठा। तब इन्द्रसहित समस्त देवताओं ने, वशिष्ठ, अग्नि आदि महर्षियों ने एवं बालखिल्यों ने उनकी स्तुति की। विद्याधर, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा सभी ने उनका प्रसादन किया। उन सब स्तुतियों में उन्हें देवताओं का आदि देव, धूप, वर्षा, बर्फ का जनक, जगद्व्यापी, सम्पूर्ण जगत् का पति, मुमुक्षु जनों का लक्ष्यभूत मोक्ष, ध्यानियों का ध्येय तत्त्व, कर्मकाण्डियों का आराध्य एवं प्राप्य तथा सम्पूर्ण चराचर जगत् का धारक और पालक कहा गया है।

सूर्य देव के तेज को शान्त करते समय उनकी स्तुति करते हुये प्रजापति विश्वकर्मा ने कहा है कि भगवन्! आप प्रणत जनों पर अनुकम्पा करते हैं। आपकी आत्मा महान् है। आप समान वेग वाले सात अश्वों के रथ पर चलते हैं। आप का तेज शोभन है। आप से ही कमलों का विकास होता है। आप ही घोर अन्धकार का विनाश करते हैं। आप अत्यन्त पावन हैं। आपका कर्म पवित्र है। आप अनन्त कामनाओं के पूरक हैं। आप दीप्तिमान् अग्निमय किरणों से युक्त हैं। आप समस्त लोक का हित करने वाले हैं। आप अजन्मा, तीनों लोकों के कारण, भूतस्वरूप, गोपति, वृष, उच्च कोटि के महान् कारुणिक, चक्षु के जनक तथा अधिष्ठाता हैं। आपकी अन्तरात्मा ज्ञान से परिपूर्ण है। आप जगत् के आश्रय, जगत् के हितैषी, स्वयम्भू, सारे लोक के द्रष्टा, अमित तेज को धारण करने वाले देवोत्तम हैं। आप उदयगिरि के शिखर से प्रकट हो समस्त देवताओं को साथ ले जगत् का हित करते हैं। सहस्रों बड़ी बड़ी किरणें आपका शरीर हैं। आप अन्धकार को दूर कर असीम शोभा के भण्डार बन जाते हैं।

संसार के अन्धकार-रूप आसव को पीने के कारण आपका वदन रक्तवर्ण हो जाता है। आप तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले किरणसमूह से शोभित होते हैं। आप अपने समस्त अश्वों से युक्त, अत्यन्त रुचिर, सुन्दर गति वाले, सुगठित तथा विस्तृत रथ पर बैठ कर जगत् के कल्याणार्थ विचरण करते हैं। आप चन्द्रमा के अमृत रस से देवों तथा पितरों को तृप्त करते हैं। इस प्रकार स्तुति करते हुये विश्वकर्मा ने उन्हें सम्पूर्ण संसार का जन्मदाता, तीनों लोकों को पावन बनाने वाले तेज का आस्पद, समस्त जगत् का प्रकाशक तथा विश्व-कर्मा कहकर उनको नमस्कार किया है।

इति सकलजगत्प्रसूतिभूतं त्रिभुवनपावनधामभूतम्।
रविमखिलजगत्प्रदीपभूतं देवं प्रणतोऽस्मि विश्वकर्माणम्॥

राजा राज्यवर्धन की प्रजा ने सूर्य की आराधना कर उनकी दश सहस्र वर्ष लम्बी आयु बढ़वा ली और राजा ने भी भगवान् भास्कर की आराधना कर अपनी प्रजा की उतनी ही आयु बढ़वा ली। आयु की वृद्धि सूर्य देव की उपासना से आज भी शक्य और सम्भव है। क्योंकि शरीर के भीतर प्राण का सञ्चरण होना ही आयु है, और यह 'अन्नं वै प्राणाः' के अनुसार अन्न के अधीन है। अन्न वर्षा के अधीन है। वर्षा सूर्य के अधीन है। अतः शास्त्रों में बतायी विधि से सूर्य की उपासना द्वारा उनमें समुचित बल, वीर्य का आधान कर उनसे समयानुकूल सुवृष्टि प्राप्त की जा सकती है। सुवृष्टि से निर्दोष, पोषक, बलप्रद सदन्न पैदा कर उसके संयत उपयोग से शरीर और प्राण को सबल बना आयु को इच्छानुकूल अभिवृद्ध किया जा सकता है।

सूर्यदेव के अनुकूल संवर्धन का सबसे श्रेष्ठ तथा सरल एवं सुन्दर साधन है अर्घ्यदान। यह प्रत्येक मानव का प्रतिदिन का कर्तव्य होना चाहिये। इससे सूर्य की प्रीति एवं पुष्टि का सम्पादन होता है। कारण कि सूर्य का शरीर एक दिव्य तेज है और दिव्य तेज का ईंधन, उसकी उद्दीप्ति का साधन जल होता है। मनुष्य का दिया अर्घ्यजल सूर्य की किरणों द्वारा उनके विशाल विग्रह में प्रविष्ट हो उसे आप्यायित और उद्दीप्त बनाता है। वैसे तो उनकी सहस्रों किरणें सर्वदैव पृथ्वी से जल खींचकर उनके कलेवर को स्नेहसिक्त करती रहती हैं। पर अर्घ्यजल में कुछ अपूर्व विशेषता एवं असाधारण शक्ति होती है। वह मात्रा में स्वल्प होने पर भी गुणप्रचुर होता है। जैसे मुख से पी जाने वाली औषधि से इञ्जेक्शन से दी जाने वाली औषधि की मात्रा अल्प होने पर भी उसकी शक्ति अधिक होती है और वह नसों द्वारा बहुत शीघ्र ही शरीर में फैल जाती है, वैसे ही स्नान से शुचि एवं सूर्य में तन्मय मन वाले मानव की अञ्जलि का अर्घ्यजल थोड़ा होने पर भी बड़ा सारवान् होता है और वह सूर्य की किरण-

नाड़ी में प्रविष्ट हो उनके विपुल विग्रह में फैलकर उसका उचित आप्यायन और उद्दीपन कर देता है। अत एव इस देश के यथार्थदर्शी ऋषियों ने अर्घ्यदान को नित्यकर्म के रूप में प्रचलित किया था। जब तक अर्घ्यदान यथासमय, यथाविधि सूर्य को दिया जाता रहा तब तक उस जल से संवर्धित, पोषित एवं प्रीत सूर्यदेव की निर्दोष पोषक किरणें अपने सम्पर्क से पृथ्वी के खाद्य-पेय पदार्थों में पुष्ट रस का आधान कर मानव को स्वास्थ्य, नैरुज्य और दीर्घायु का दान बराबर करती रही हैं।

मार्कण्डेय पुराण में प्राप्त होने वाली सूर्य के सम्बन्ध की उपर्युक्त चर्चाओं से सूर्य के तीन रूपों का परिचय प्राप्त होता है। एक तो आकाश में आँखों से दिखाई देने वाला गोलाकार किरणमय महान् तेजःपुञ्ज। दूसरा वह, जो उपासकों की स्तुतियाँ और प्रार्थनायें सुन प्रसन्न होता है। उनके नियम, व्रत, नमन, पूजन से तुष्ट हो दर्शन और वरदान देता है। अदिति के गर्भ से जन्म ले दैत्यों का संहार करता है। विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह कर वैवस्वत मनु जैसी सन्तान पैदा करता है। और तीसरा वह, जो वेद, पुराण आदि समस्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य, त्रिगुणात्मिका प्रकृति का अधीश्वर, समस्त विश्वप्रपञ्च का अधिष्ठान, परात्पर, शुद्ध, शाश्वत, सच्चिदानन्द ब्रह्म है। इस विषय में बहुतों को यह सन्देह हो सकता है कि एक ही सूर्य के परस्परविरोधी ये तीन रूप कैसे हो सकते हैं? एक वस्तु का कोई एक ही रूप हो सकता है। या तो वह केवल जड़ भूतों का एक पुञ्जमात्र ही हो सकता है, या व्यवहारक्षम शरीरधारी कोई चेतन ही हो सकता है, या तो फिर व्यवहारातीत निर्गुण ब्रह्म ही हो सकता है। एक ही वस्तु सब कुछ कैसे हो सकती है?

ऐसा सन्देह करने वाले सज्जनों से केवल यही निवेदन करना है कि ऐसे सन्देह, पौराणिक दृष्टि का, जो वस्तु को समझने की एकमात्र यथार्थ दृष्टि है, परिचय न होने के कारण ही होते हैं। अतः इनके निराकरणार्थ पौराणिक दृष्टि को समझना आवश्यक है।

पौराणिक दृष्टि के तीन प्रकार हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक दृष्टि वह है जो वस्तु के केवल वाह्य रूप को देखती है, जिसे प्रत्येक वस्तु के भीतर अवस्थित चेतन तत्त्व का दर्शन नहीं होता। उसके अनुसार सूर्य सचमुच तेज का एक गोलाकार पिण्डमात्र ही है। पर आधिदैविक दृष्टि इससे भिन्न है। वह इसके आगे बढ़ती है। वह जड़ वस्तुओं के भीतर घुस उसके अधिष्ठाता अधिदैव का पता लगाती है और इस तथ्य पर पहुँचती है कि जगत् में भूतों का जो कोई भी संघात बनता है उस प्रत्येक का कोई न कोई एक आधार

होता है, अधिष्ठाता होता है। यदि ऐसा कोई अधिष्ठान तत्त्व न हो तो शून्य में संघात कैसे बन सकेगा ?

असंख्य भूतकणों का एक साथ बँधकर एक उपयोगी, व्यवस्थित एवं गठित रूप में निष्पन्न होकर स्थिर रहना बिना किसी अधिष्ठान के कैसे सम्भव हो सकता है ? तो फिर इनका जो अधिष्ठान होता है उसे चेतन तत्त्व ही कहना होगा। क्योंकि यदि वह भी अचेतन ही हो तो वह भी एक संघात के समान ही होने के कारण भौतिक संघात का निष्पादक नहीं हो सकता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न भौतिक संघात का अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न चेतन ही उस संघात का अधिदैव है।

इस दृष्टि के अनुसार आकाश में चमकते हुये चाक्षुष प्रकाशमय तेजोगोलक में जो अधिदैव अनुप्रविष्ट है वही प्रजाजनों के स्तवन, पूजन, नमन आदि से तुष्ट हो वरदान देता है। वही अदिति के गर्भ से जन्म ग्रहण कर विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह और वैवस्वत मनु जैसी सन्तानों को जन्मदान करता है। इसी दृष्टि के आधार पर इस धर्मप्राण कृतज्ञ देश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, अग्नि, वायु, पृथ्वी, देव, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, तिर्यक्, नद, नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति आदि प्रतीकों के पूजन का प्रचलन है।

तीसरी दृष्टि का नाम है आध्यात्मिक दृष्टि। यह उक्त दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ, स्पष्ट और अधिक सूक्ष्मदर्शी है। इसकी परिकल्पना यह है कि जगत् के भिन्न भिन्न भौतिक संघातों में जो भिन्न भिन्न अधिदैव हैं-चेतन तत्त्व हैं वे एक ही देव-एक ही चेतन तत्त्व के अंश, प्रतिबिम्ब वा आभास हैं। इन समस्त अधिदैवों-सम्पूर्ण चेतनांशों का एक ही केन्द्र है। एक ही अखण्ड, शुद्ध, शाश्वत महाचैतन्य, एक ही देवाधिदेव विश्व के कण कण में व्याप्त है। उस एक ही सनातन, सर्वविधसीमातीत सूत्र में यह सारा विश्व-प्रपञ्च ग्रथित है। इस दृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण संसार को भौतिक अन्धकार के गम्भीर गह्वर से निकाल उसे प्रकाशित करने वाला आकाशस्थ अग्निपिण्ड तथा उसके अधिष्ठाता अधिदैव दोनों को सत्ता प्रदान करने वाला परमसत्य, परमेश्वर, वेदान्तवेद्य, पुराण पुरुष, परात्पर विशुद्ध ब्रह्म ही यथार्थ सूर्य है। वैवस्वत मन्वन्तर, जिसका अट्ठाइसवां कलियुग इस समय चल रहा है, आधिदैविकदृष्टिसिद्ध विवस्वान् सूर्य के प्रतापशाली पुत्र वैवस्वत मनु से प्रवर्तित हुआ है। फलतः आज का समस्त मानवसमाज सूर्यदेव की ही सन्तान है। अतः सूर्य की उपासना, उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन तथा उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न आज के मानव का परम कर्तव्य है।

वंशानुचरित—

सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश और मन्वन्तर के सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। अब वंशानुचरित की चर्चा का अवसर है। किन्तु यह अंश बड़ा

विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसकी संक्षिप्त चर्चा भी इस लघुकाय लेख में संभव नहीं है। इसका अध्ययन तो पुराणों से ही करना चाहिए। इसकी समुचित जानकारी वहीं प्राप्त होगी। यहाँ इतना ही बता देना पर्याप्त है कि वंशानुचरित का अध्ययन जीवननिर्माण के लिये बहुत उपयोगी है। यह कहानियों के समान केवल मनोरञ्जन का साधन मात्र नहीं है। विभिन्न समयों के वंशानुचरित का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि किन समयों में किन वंशों की स्थापना किस प्रकार हुई। उनका विस्तार किस प्रकार हुआ। उनके शासन का स्थापन, उत्थान, तथा पतन कैसे हुआ। उनका विधान एवं उनके जीवन का क्रम क्या था। उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक गतिविधि क्या थी। उनके जीवन और व्यवहार का दृष्टिकोण क्या था। उनका भौतिक विज्ञान किस स्तर का था। राजा और प्रजा के सम्बन्ध कैसे थे। शिल्प, कला, विद्या, व्यवसाय की स्थिति, उनकी रूपरेखा और उनकी प्रसारपद्धति क्या थी। स्वास्थ्य, शिक्षा, न्याय और जीविका के साधनों की सुलभता वा दुर्लभता किम्मूलक थी। स्त्रीवर्ग की शिक्षा, दीक्षा, उनका कार्यक्षेत्र, समाज में उनका स्थान, बाह्य विषयों में उनका योगदान, तथा पुरुष के साथ उनका सम्बन्ध कैसा था। वंशानुचरित के अध्ययन से इन सब बातों का पता विस्तार के साथ लगता है। पुरातन काल की इन सब बातों की जानकारी से अनेक लाभ होते हैं। उनकी त्रुटियां और उन त्रुटियों के कुफल जानकर उनसे बचने तथा उनके गुण और उन गुणों के रमणीय परिणाम जानकर उनके ग्रहण का प्रयत्न किया जा सकता है। पुराणों के वंशानुचरित के अध्ययन से यह एक बात तो स्पष्ट रूप से अवगत होती है कि भारतीय मानव का जीवन कभी एकाङ्गी नहीं रहा। उसकी दृष्टि के समक्ष जगत् का भौतिक जीवन और आध्यात्मिक उत्थान दोनों समान रूप से प्रस्तुत थे। उसने कभी भी किसी एक ही को प्रमुखता देकर दूसरे की ओर से आँख नहीं मीची। भारत की पुरातन व्यवस्था में पग पग पर यह बात देखने को मिलती है कि अरण्यवासी, निरीह, निर्मम ऋषि भी समय समय पर देश की राजनीति में पूर्ण सहयोग करते तथा देश में निष्पक्ष, न्यायशील, सुव्यवस्थित शासन की स्थापना का आयोजन करते हैं। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सुसम्पन्न, सुमहान्, सार्वभौम साम्राज्य के विलासपूर्ण वातावरण में जीवन व्यतीत करने वाले बड़े बड़े राजा को भी धर्म, सत्य एवं अध्यात्म के नाम पर राज्य को त्याग कर अरण्यवासी बनने में कभी कोई हिचक नहीं होती।

उपसंहार

इस प्रबन्ध के आरंभ में कहा गया है कि पुराणपुरुष, परमात्मा का प्रतिपादन करना ही पुराण का लक्ष्य है और प्रतिपाद्य तत्त्व के आधार पर ही इसका नाम पुराण पड़ा है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर, और वंशानुचरित का वर्णन भी उस पुरुष का निरूपण करने के निमित्त ही किया गया है। लेख के पिछले भाग से यह बात भी पर्याप्त स्पष्ट हो गयी है कि सर्ग, प्रतिसर्ग आदि की व्यवस्था उस पुराण पुरुष के बिना नहीं हो सकती। कारण यह है कि इस जगत् की धारा अविच्छिन्न नहीं है। ऐसा नहीं है कि इस जगत् का क्रम एकान्त रूप से अनादि है, इसका कभी आरम्भ नहीं हुआ है और यह सदा इसी प्रकार चलता रहेगा। इसका कभी अवसान नहीं होगा। हम देखते हैं कि हमारे समक्ष ऐसे असंख्य दृश्य पदार्थ हैं जिनका एक दिन कोई पता न था। जिनके अस्तित्व का कोई चिह्न न था। उन्हें आज जहाँ हम देखते हैं कभी वहाँ कुछ न था। केवल शून्य था। कोई सीमा न थी, कोई परिधि न थी, कोई मूर्ति न थी। कोई अभिव्यक्ति न थी। पर एक दिन वहाँ उन पदार्थों की विशाल मूर्त्ति खड़ी हो जाती है। उनका उपयोग, उनका व्यवहार होने लगता है। उनके लिए लड़ाई, झगड़े और रक्तपात होने लगते हैं। हम देखते हैं बड़ी बड़ी नदियों, समुद्र के बड़े बड़े भागों को स्थल में परिवर्तित होते, बड़े बड़े जंगलों को ग्राम और नगरों में बदलते, बड़े बड़े नगरों, उपनगरों को उजाड़ जंगल में उतरते, गम्भीर महागर्तों में ऊँचे ऊँचे पहाड़ खड़े होते और बड़े बड़े पहाड़ों को कण-कण में विचूर्ण होते। ये घटनायें हमारी आँखें खोल देती हैं। हमें यह स्वीकार करने को बाध्य करती हैं कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ अभावपूर्वक होता है। प्रत्येक दृश्य वस्तु की व्यक्तावस्था, अव्यक्तावस्थापूर्वक होती है। इसी प्रकार प्रत्येक अभाव भावपूर्वक तथा प्रत्येक अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्थापूर्वक होती है। फिर यह अव्यभिचरित नियम इस तथ्य को स्थापित करता है कि कोई ऐसा भी समय अवश्य रहा होगा जब यह जगत् सर्वथा अस्तित्वशून्य अथवा सर्वथा अव्यक्त रहा होगा। वही अवस्था प्रतिसर्ग है और जगत् की यह दृश्यमान अवस्था सर्ग है।

उपर्युक्त वस्तुस्थिति में यह निर्विवाद है कि यदि जगत् की उस शून्यावस्था में कोई भावात्मक तत्त्व न माना जायगा तो यह विपुल विश्व कैसे खड़ा हो सकेगा? केवल शून्य से, असत् से, अभाव से इस विचित्र जगच्चित्र का चित्रण कैसे हो सकेगा? किसी भी चित्र को खींचने, किसी भी मूर्ति को खड़ी करने, किसी भी ठोस वस्तु को बनाने में कुशल शिल्पी और आवश्यक उपकरणों एवं उपादान तत्त्वों का होना अनिवार्य होता है। अतः जगत् की उस शून्य अवस्था में, प्रतिसर्ग की दशा में भी जगत के उपादान तत्त्व, कुशल रचयिता तथा अपेक्षित उप-

करण का अस्तित्व मानना ही होगा। पुराण ने जगत् के उस उपादान तत्त्व को त्रिगुणात्मिका प्रकृति, कर्त्ता को परमेश्वर, उपकरणों को ईश्वरीय परयोग तथा जीव के शुभाशुभ कर्म जनित संस्कार के रूप में वर्णित किया है। मार्कण्डेय पुराण का अग्रिम वचन इस बात का विस्पष्ट निर्देश करता है।

अनाद्यन्तं जगद्योनिं त्रिगुणप्रभवाव्ययम् ।
असाम्प्रतमविज्ञेयं ब्रह्माऽग्रे समवर्तत ॥

मा० पु० ४५ अ०

स्वात्मन्यवस्थितेऽव्यक्ते विकारे प्रतिसंहृते ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव साधर्म्येणावतिष्ठतः ॥

मा० पु० ४६ अ०

अहर्मुखे प्रबुद्धस्तु जगदादिरनादिमान् ।
सर्वहेतुरचिन्त्यात्मा परः कोऽप्यपरक्रियः ॥ ,,
प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु जगत्पतिः ।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥ ,,

जगत्-प्रवाह के प्रवर्तक, प्रकृति के अधीश्वर, जीवकर्मों के साक्षी, अखण्ड-चैतन्यरूप इस परमेश्वर का साक्षात्कार करने में ही मानवजन्म की कृतार्थता है। इस कार्य के लिए समाज को समुचित सुविधा और अनुकूल अवसर सुलभ करने के लिए ही देश में सुदृढ़, सुव्यवस्थित एवं समुन्नत शासन की आवश्यकता होती है। इसके लिए ही नाना प्रकार की नीतियों का निर्माण, समुज्ज्वल सदाचार का प्रचार, शिक्षा, दीक्षा एवं सामाजिक सङ्गठन आदि कार्यों की अपेक्षा होती है। यदि मानव इससे विमुख है, शासन इस ओर से उदासीन है, शिक्षाविधि एवं सामाजिक व्यवस्था इसके प्रतिकूल है तो उनका कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोग नहीं। सब निस्सार, निस्तत्त्व और निरर्थक है।

बस पुराण का यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सिद्धान्त है, यही उद्घोष है। इसका प्रचार, प्रसार और पालन आवश्यक है। अन्यथा भौतिकवादी मानव के विषमय मस्तिष्क से निकला पारमाणविक विज्ञान निश्चय ही मानवता को कवलित कर लेगा। सभ्यता को समाप्त कर देगा। संस्कृति को निःशेष कर देगा। जगत् के जीवनदीप को बुझा देगा।

मार्कण्डेय पुराण का अध्यायानुसार परिचय

पहला अध्याय

इस अध्याय में महाभारत को सब शास्त्रों से उत्तम बताया गया है और कहा गया है कि इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-शास्त्र अन्तर्भूत हैं। इसे वेदरूपी पर्वत से निकली हुई वह महानदी कहा गया है जो अपने जलप्रवाह से कुतर्क-वृक्षों का मूलोच्छेद करती हुई बुद्धिमही को निर्मल बनाती है। इसके बाद व्यासशिष्य जैमिनि के महाभारत से सम्बद्ध चार प्रश्नों का उल्लेख है। जैसे—(१) निर्गुण परमात्मा का मनुष्य के रूप में प्राकट्य किस प्रकार होता है? (२) द्रौपदी पाँचो पाण्डवों की पत्नी कैसे हुई? (३) तीर्थयात्रा के निमित्त निकले हुये बलराम को ब्रह्महत्या कैसे लगी और उन्होंने उसका क्या प्रायश्चित्त किया? (४) द्रौपदी के पाँचों पुत्र अविवाहित ही क्यों रहे और अनाथ जैसे क्यों मारे गये?

अनेक आवश्यक कार्यभार होने के कारण मार्कण्डेय ऋषि ने स्वयं इन प्रश्नों का उत्तर न देकर तदर्थ जैमिनि को विन्ध्यनिवासी चार पक्षियों के निकट जाने का निर्देश किया। इन पक्षियों के जन्म के वर्णनप्रसङ्ग में ऋषि ने बताया है कि वपु नाम की एक अप्सरा किस प्रकार दुर्वासा के शाप से यक्षिणी हो गई।

इस अध्याय का यह श्लोक संग्राह्य है—

गुणरूपविहीनायाः सिद्धिर्नाट्यस्य नास्ति वै।
चार्वधिष्ठानवन्नित्यं नृत्यमन्यद्विडम्बनम् ॥३६॥

जिसमें गुण और रूप नहीं होता उसे नाट्य में सफलता नहीं मिलती। नृत्य का अधिष्ठान सदा सुन्दर होना चाहिए। उसके अभाव में नृत्य एक विडम्बना-मात्र होता है।

दूसरा अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि कैलास पर्वत पर विद्युद्रूप नामक राक्षस ने जब अरिष्टनेमि के पुत्र गरुड़ के वंशज कङ्क को मार डाला तब उसके अनुज कन्धर ने उसका बदला लेने के निमित्त उस राक्षस पर आक्रमण कर उसका वध कर दिया और उसकी पत्नी को अपनी पत्नी बना लिया। कन्धर की इस विजय-प्राप्त पत्नी से ही वपु नाम की अप्सरा का यक्षिणी के रूप में जन्म हुआ और

उसका नाम तार्क्षी रखा गया। सयानी होने पर मन्दपाल के पुत्र द्रोण के साथ उसका विवाह हुआ। उसी से महाभारत की युद्धभूमि में बड़े विचित्र ढंग से चार पक्षियों का जन्म हुआ और वे शमीक ऋषि के आश्रम में पालित हुए। इस अध्याय के निम्नांकित श्लोक संग्राह्य हैं।

साधारणोऽयं शैलेन्द्रो यथा तव तथा मम।
अन्येषां चैव जन्तूनां ममता भवतोऽत्र का? ॥८॥

यह शैल सार्वजनिक है, यह जैसे तेरा है वैसे ही मेरा तथा अन्य जन्तुओं का भी है, फिर इस पर तुझे यह ममता क्यों?

नश्यतो युध्यतो वाऽपि तावद्भवति जीवनम्।
यावद्धाताऽसृजत्पूर्वं न यावन्मनसेप्सितम् ॥५०॥

युद्ध से भागने वाले तथा युद्ध में लड़ने वाले दोनों का जीवन उतना ही होता है जितना विधाता द्वारा पहले से स्थिर किया रहता है। किसी का भी जीवन उसकी इच्छा के अनुसार नहीं होता।

काण्डानां पतनं विप्राः? क घण्टापतनं समम्?
क च मांसवसारक्तैर्भूमेरास्तरणक्रिया? ॥ ५८ ॥
केऽप्येते सर्वथा विप्राः! नैते सामान्यपक्षिणः।
दैवानुकूलता लोके महाभाग्यप्रदर्शिनी ॥५९॥

द्विजाः! किंवाऽतियत्नेन मार्यन्ते कर्मभिः स्वकैः।
रक्ष्यन्ते चाखिल जीवा यथैते पक्षिबालकाः ॥६२॥

तथाऽपि यत्नः कर्तव्यो नरैः सर्वेषु कर्मसु।
कुर्वन् पुरुषकारन्तु वाच्यतां याति नो सताम् ॥६३॥

विप्रो! अण्डों का गिरना, घण्टा का टूटना, मांस, मेदा और रक्त से पृथ्वी का आच्छादित होना—इन सब बातों का एक साथ होना एक आश्चर्य-मय घटना है ॥५८॥ विप्रो! निश्चय ही ये कोई विशेष जीव हैं, ये साधारण पक्षी नहीं हैं। क्योंकि लोक में दैव की विशेष अनुकूलता महानुभावता का सूचक होती है ॥५९॥

ब्राह्मणो! बहुत प्रयत्न करना अनावश्यक है। समस्त जीव अपने कर्मों से ही मरते और जीते हैं। इस बात में ये पक्षि-शावक ही निदर्शन हैं ॥६२॥ फिर भी मनुष्य को सारे कार्य प्रयत्नपूर्वक करने चाहिए। पौरुष करने वाला मनुष्य यदि कदाचित् असफल भी हो जाय तो भले लोग उसकी निन्दा नहीं करते ॥६३॥

तीसरा अध्याय

इस अध्याय में पक्षियों ने शमीक ऋषि को अपनी जन्मकथा सुनाई है जो इस प्रकार है—

विपुलस्वान् के ज्येष्ठ पुत्र सुकृष सत्यनिष्ठ, तपस्वी तथा सम्पन्न ब्राह्मण थे। ये पक्षी पूर्व जन्म में इन्हीं के पुत्र थे। एकबार सुकृष की तपस्या की परीक्षा के लिये इन्द्र एक वृद्ध, बुभुक्षित पक्षी के रूप में उनके पास गये। सुकृष ने उस पक्षी का आतिथ्य करने की इच्छा से उसके आहार के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। पक्षी ने मनुष्य के मांस और रक्त को अपना खाद्य तथा पेय बताया। ब्राह्मण ने अतिथिसत्कार को गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म समझ कर अपने पुत्रों से पहले आज्ञापालन का वचन लिया और बाद में अपने रक्त-मांस से उस पक्षी का आतिथ्य करने की आज्ञा दी। पुत्र जीवन के मोह में पड़ कर पिता की आज्ञा मानने को तैयार न हुये। तब पिता ने रुष्ट होकर उन्हें पक्षी हो जाने का शाप दे दिया। पुत्रों ने त्रस्त हो पिता से क्षमा माँगी। पिता ने शाप को अपरिवर्तनीय बताते हुए वरदान दिया कि पक्षी की योनि में भी उनकी स्मृति का लोप न होगा और उनकी विद्यायें ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। इसी शाप और वरदान के अनुसार ये मुनिकुमार सर्वशास्त्रसम्पन्न पक्षी हुये।

इस अध्याय के ये श्लोक संग्रह करने योग्य हैं—

यस्मिन्नराणां सर्वेषामशेषेच्छा निवर्तते।
स कस्माद् वृद्धभावेऽपि सुनृशंसात्मको भवान्? ॥२६॥
क्व मानुषस्य पिशितं? क्व वयश्चरमन्तव?।
सर्वथा दुष्टभावानां प्रशमो नोपजायते ॥३०॥

जिस अवस्था में सब जीवों की सारी इच्छायें समाप्त हो जाती हैं, उस वृद्धावस्था में पहुँच कर भी आप इतने नृशंस क्यों हैं? ॥२६॥ कहाँ मनुष्य का मांस और कहाँ यह आपकी अन्तिम अवस्था? सत्य है, दुष्टभावों की शान्ति कदापि नहीं होती ॥३०॥

एतावदेव विप्रस्य ब्राह्मणत्वं प्रचक्ष्यते।
यावत्पतङ्गजात्यग्रे स्वसत्यपरिपालनम् ॥४७॥
न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिस्तत्पुण्यं प्राप्यते महत्।
कर्मणाऽन्येन वा विप्रैर्यत्सत्यपरिपालनात् ॥४८॥

ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व इसी में है कि वह पक्षी के समक्ष भी सत्य का पालन करे ॥४७॥ ब्राह्मण को सत्यपालन से जो महान् पुण्य प्राप्त होता है वह अच्छी

दक्षिणावाले अनेक यज्ञों से अथवा अन्य किसी उत्तम कर्म से नहीं प्राप्त हो सकता ॥४८॥

प्रज्ञाप्राकारसंयुक्तमस्थिस्थूणं पुरं महत्।
चर्मभित्तिमहारोधं मांसशोणितलेपनम् ॥५९॥
नवद्वारं महायासं सर्वतःस्नायुवेष्टितम्।
नृपश्च पुरुषस्तत्र चेतनावानवस्थितः ॥६०॥
मन्त्रिणौ तस्य बुद्धिश्च मनश्चैव विरोधिनौ।
यतेते वैरनाशाय तावुभावितरेतरम् ॥६१॥
नृपस्य तस्य चत्वारो नाशमिच्छन्ति विद्विषः।
कामः क्रोधस्तथा लोभो मोहश्चान्यस्तथा रिपुः ॥६२॥
यदा तु स नृपस्तानि द्वाराण्यावृत्य तिष्ठति।
तदा सुस्थबलश्चैव निरातङ्कश्च जायते ॥६३॥
यदा तु सर्वद्वाराणि विवृतानि स मुञ्चति।
रागो नाम तदा शत्रुर्नेत्रादिद्वारमृच्छति ॥६४॥
सर्वव्यापी महायामः पञ्चद्वारप्रवेशनः।
तस्यानुमार्गं विशति तद्वै घोरं रिपुत्रयम् ॥६५॥
प्रविश्याथ स वै तत्र द्वारैरिन्द्रियसंज्ञकैः।
रागः संश्लेषमायाति मनसा च सहेतरैः ॥६६॥
इन्द्रियाणि मनश्चैव वशे कृत्वा दुरासदः।
द्वाराणि च वशे कृत्वा प्राकारं नाशयत्यथ ॥ ६७॥
मनस्तस्याश्रितं दृष्ट्वा बुद्धिर्नश्यति तत्क्षणात्।
अमात्यरहितस्तत्र पौरवर्गोज्झितस्तथा ॥६८॥
रिपुभिर्लब्धविवरः स नृपो नाशमृच्छति।
एवं रागस्तथा मोहो लोभः क्रोधस्तथैव च ॥६९॥
प्रवर्तन्ते दुरात्मानो मनुष्यस्मृतिनाशकाः।
रागात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाल्लोभोऽभिजायते ॥७०॥
लोभाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥७१॥

यह शरीर एक बड़ा सा नगर है। प्रज्ञा इसकी चहारदीवारी है। यह हड्डियों के खम्भे पर खड़ा है। चमड़ा इसकी दीवार है जिसने समूचे नगर को रोक रखा है। मांस और रक्त के पङ्क का इस पर लेप चढ़ा है ॥५९॥ इसमें नव दरवाजे हैं। यह बड़े यत्न से सुरक्षित है। नसों और नाड़ियों ने इसे सब ओर

से घेर रखा है। चेतन पुरुष ही इस नगर का राजा है ॥६०॥ उसके दो मन्त्री हैं—बुद्धि और मन। वे दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं और सर्वदेव अपने वैर का प्रतिशोध करने की ताक में रहते हैं ॥६१॥ उस राजा के चार शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ तथा मोह। ये चारों उस राजा का नाश करने को सदैव उद्यत रहते हैं ॥६२॥ जब वह नवों दरवाजों को बन्द किये रहता है तब उसकी शक्ति सुरक्षित रहती है और वह निर्भय बना रहता है ॥६३॥ परन्तु जब वह दरवाजों को खुला छोड़ देता है तब राग नामक शत्रु नेत्र आदि द्वारों पर आक्रमण करता है ॥६४॥ वह सर्वत्र व्यापक और बड़ा विशाल है। वह पाँचों दरवाजों से प्रवेश करता है। उसके पीछे तीन और भयंकर शत्रु प्रविष्ट हो जाते हैं ॥६५॥ पाँच इन्द्रिय-द्वारों से प्रविष्ट होकर राग मन तथा अन्यान्य इन्द्रियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है ॥६६॥ इन्द्रिय और मन को वश में करके वह दुर्जेय हो जाता है तथा समस्त दरवाजों पर अधिकार कर प्रज्ञारूपी चहार-दीवारी को नष्ट कर देता है ॥६७॥ मन को राग के अधीन देखकर बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। मन्त्रियों के अभाव में अन्य पुरवासी भी उसे छोड़ देते हैं ॥६८॥ फिर शत्रुओं को उसके छिद्र का ज्ञान हो जाने से राजा उनके द्वारा नाश को प्राप्त हो जाता है। राग, मोह, लोभ और क्रोध—ये दुष्ट शत्रु मनुष्य की स्मरणशक्ति का नाश कर देते हैं। राग से क्रोध, क्रोध से लोभ और लोभ से अविवेक का जन्म होता है ॥६९, ७०॥ अविवेक से स्मृति का विभ्रम होता है और स्मृति के विभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। फिर बुद्धि का नाश होने से मनुष्य कर्तव्यच्युत हो स्वयं नष्ट हो जाता है ॥७१॥

नास्त्यसाविह संसारे यो न दिष्टेन बाध्यते।
सर्वेषामेव जन्तूनां दैवाधीनं हि चेष्टितम् ॥८१॥

इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो दैव से बाधित न हो, और यह इसीलिये कि सभी जन्तुओं की चेष्टा दैव के ही अधीन होती है ॥८१॥

चौथा अध्याय

परस्पर परिचय होने के पश्चात् जैमिनि ने उन पक्षियों के समक्ष अपने पूर्वोक्त चारों प्रश्न सुनाये और कहा कि इन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये मैं मार्कण्डेय ऋषि के निर्देश से आप लोगों के निकट आया हूँ। पक्षियों ने जगत्प्रभु परमात्मा को प्रणाम कर पहले प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—

नीरनिधिनिवासी नारायण के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण रूप सर्वथा निर्देशातीत तथा योगियों का ध्येय है और वासुदेव नाम से व्यवहृत

होता है। सगुण रूप के तीन भेद हैं, (१) तमोगुणप्रधान—यह शेष नाम से प्रसिद्ध है और यह पृथ्वी इसी पर आधारित है। (२) सत्त्वप्रधान—इससे प्रजा का पालन तथा धर्म का संस्थापन होता है। (३) रजःप्रधान—यह जल के मध्य सर्पशय्या पर आश्रित है। इसी से सृष्टि का निर्माण होता है। इन सगुण मूर्तियों में जो सत्त्वप्रधाना प्रजापालिका मूर्ति है वही धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होने पर धर्मविरोधियों के वध और धर्मपालकों की रक्षा के द्वारा अधर्म की निवृत्ति एवं धर्म के संस्थापन के निमित्त शरीर धारण करती है। इसके वराह, नृसिंह, वामन आदि अनेक अवतार हो चुके हैं। इसी ने मथुरा में श्रीकृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण किया है।

इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

स्फीतद्रव्ये कुले केचिज्जाताः किल मनस्विनः।
द्रव्यनाशे द्विजेन्द्रास्ते शबरेण सुसान्त्विताः ॥११॥
दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे।
पातयित्वा च पात्यन्ते त एव तपसः क्षयात् ॥१२॥
एतद् दृष्टं सुबहुशो विपरीतं तथा मया।
भावाभावसमुच्छेदैरजस्रं व्याकुलं जगत् ॥१३॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा न शोकं कर्तुमर्हथ।
ज्ञानस्य फलमेतावच्छोकहर्षैरधृष्यता ॥१४॥

जो लोग सम्पन्न कुल में पैदा होकर बड़े मनस्वी रहे, सम्पत्ति का नाश हो जाने पर उन्हीं को शबरों से सान्त्वना प्राप्त करनी पड़ी ॥११॥ जो पहले दाता रहे बाद में उन्हें याचक होना पड़ा। जो दूसरों को मारते थे उन्हें स्वयं दूसरों के हाथ मरना पड़ा। जो दूसरों को गिराते थे उन्हें स्वयं दूसरों द्वारा गिरना पड़ा। ऐसी उलट-फेर की बातें तपस्या के क्षय से अनेक बार होती देखी गई हैं। भाव के बाद अभाव और अभाव के बाद भाव। इस प्रकार भावाभाव की परम्परा से संसार के लोग सदैव व्याकुल रहते हैं ॥१२, १३॥ आप लोगों को भी ऐसा विचार कर कभी शोक न करना चाहिये। शोक और हर्ष के वशीभूत न होना ही ज्ञान का फल है ॥१४॥

पांचवां अध्याय

इस अध्याय में पक्षियों ने जैमिनि के दूसरे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है— द्रौपदी सामान्य नारी न थी। वह इन्द्र की पत्नी साक्षात् शची थी जो द्रुपद की कन्या होकर अवतीर्ण हुई थी। इसी प्रकार युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम तथा नकुल

और सहदेव—ये पांचों पाण्डव भी सामान्य मनुष्य नहीं थे, किन्तु ये पाँच रूपों में अवतीर्ण साक्षात् इन्द्र देव थे। जिस प्रकार योगी अपने योगप्रभाव से एक ही समय अनेक शरीर धारण कर लेता है उसी प्रकार योगशक्तिसम्पन्न देवराज ने भी ये पांच शरीर धारण कर लिये थे। इस प्रकार द्रौपदी पांच शरीरों में स्थित एक ही पुरुष की पत्नी थी।

इस अध्याय से यह शिक्षा मिलती है कि ब्राह्मणवध, सन्धिभङ्ग तथा परस्त्रीगमन जैसे दुष्कर्मों से महान् से महान् पुरुष का भी घोरतम पतन हो जाता है, जैसा कि प्रजापति त्वष्टा के पुत्र के वध से, सन्धिभङ्ग कर वृत्र का वध करने से तथा गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का सतीत्व नष्ट करने से देवराज इन्द्र का हुआ।

छठा अध्याय

इस अध्याय में जैमिनि के तीसरे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

जब कौरव और पाण्डवों के बीच होने वाले महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सारथि होना स्वीकार कर लिया तो श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलराम बड़े असमञ्जस में पड़े। उन्होंने सोचा कि दुर्योधन का पक्ष लेने पर अपने अनुज श्रीकृष्ण से विरोध करना होगा और श्रीकृष्ण के कारण पाण्डवों का पक्ष लेने पर अपने स्नेही तथा सम्बन्धी दुर्योधन से वैर करना होगा। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे किसी भी पक्ष से युद्ध में सम्मिलित न होंगे और जब तक युद्ध समाप्त न हो जायगा तब तक तीर्थाटन करेंगे। इस निश्चय के अनुसार उन्होंने अपनी पत्नी रेवती तथा थोड़े से परिजनों को साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान कर दिया। एक दिन उन्होंने कुछ अधिक मद्यपान कर परिजनोंसहित रैवत वन में प्रवेश किया। वहाँ सूतजी ऋषिमण्डली के बीच कथा कह रहे थे। श्रोता ऋषियों ने खड़े होकर बलराम जी का स्वागत किया, पर सूत जी व्यासासन की मर्यादा का विचार कर बैठे ही रह गये। इससे क्रुद्ध हो बलराम ने उनका वध कर दिया। इस घटना से खिन्न हो ऋषिगण उस वन को छोड़ अन्यत्र चले गये। थोड़े समय बाद जब बलराम के शिर से सुरा का प्रभाव उतरा तो उन्हें अपने कुकृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। इस प्रकार सूत जी के वध से लगी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिये अपने कुकृत्य का उद्घोष करते हुये उन्होंने पुनः नये सिरे से तीर्थयात्रा आरम्भ की।

इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि मादक द्रव्य के सेवन से बलराम जैसे धीर और विवेकी पुरुष भी पथभ्रष्ट हो जाते हैं अतः मादक द्रव्य का सेवन सर्वथा त्याज्य है।

इस अध्याय में बलराम की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है —

धिगमर्षं तथा मद्यमतिमानमभीरुताम् ।
यैराविष्टेऽपि सुमहन्मया पापमिदं कृतम् ॥३४॥
तत्क्षयार्थं चरिष्यामि व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
स्वकर्मख्यापनं कुर्वन् प्रायश्चित्तमनुत्तमम् ॥३५॥

अमर्ष, मद्य, अभिमान और निर्भयता को धिक्कार है, जिनके आवेश में आ मैंने ऐसा महान् पाप कर डाला ॥३४॥ अब इसका क्षय करने के हेतु अपने कुकर्म का बखान करता हुआ बारह वर्ष का व्रत करूँगा। वही मेरे पाप का सर्वोत्तम प्रायश्चित्त होगा ॥३५॥

सातवाँ अध्याय

इस अध्याय में जैमिनि के चौथे प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है–

त्रेतायुग में हरिश्चन्द्र नाम के एक बड़े धार्मिक तथा यशस्वी राजा थे। उनके शासनकाल में कभी किसी प्रकार का अकाल नहीं पड़ा। प्रजाजनों पर कभी रोगों का आक्रमण नहीं हुआ। कभी किसी की अकाल मृत्यु नहीं हुई। किसी नागरिक ने कभी कोई अधर्म नहीं किया। धन, बल तथा तप का कभी किसी को अभिमान नहीं हुआ। यौवन का पूर्ण विकास हुए बिना कभी कोई स्त्री सन्तान वती नहीं हुई। ऐसा था उनका अनुपम राज्य। एक दिन वे मृगया के निमित्त वन में गये। वहाँ उन्होंने कुछ स्त्रियों के आर्त्तनाद सुने और उनकी रक्षा के लिए वे उस नाद की ओर दौड़ पड़े। वे सामान्य स्त्रियाँ न थीं वरन् स्त्रीरूप में वे विद्यायें थीं, जिन्हें विश्वामित्र क्षमा, मौन तथा मनःसंयम द्वारा आयत्त करना चाहते थे। राजा को यह रहस्य ज्ञात नहीं हुआ। अतः वे उन स्त्रियों की रक्षा का आश्वासन दे उन्हें सन्तप्त करने वाले पुरुष को कुशब्द कहते हुये उसे दण्ड देने के लिये उसकी खोज करने लगे। उनके शब्दों को सुन विश्वामित्र को क्रोध आ गया। क्रोध आते ही विद्यायें नष्ट हो गईं। विश्वामित्र के क्रोध का शमन करने के लिये राजा ने अपना सारा राज्य उन्हें भेंट कर दिया। तत्पश्चात् विश्वामित्र ने कहा–"राजन्! अब तो यह सारा राज्य मेरा हो गया। इसकी किसी वस्तु में अब तुम्हारा स्वत्व नहीं है। अतः अन्य किसी स्थान से इस महादान की दक्षिणा का प्रबन्ध करो।" दक्षिणा का प्रबन्ध करने के लिये राजा अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित के साथ राज्य से बाहर जाने को उद्यत हुये। नागरिकों ने भक्ति और प्रेमवश उन्हें घेर लिया और अपने को भी साथ ले चलने का अनुरोध किया। उनके प्रबोधनार्थ राजा थोड़ा

ठहर गये। यह देख विश्वामित्र को क्रोध आ गया और वे राजा की भर्त्सना करते हुये रानी को मारने लगे। उनके इस क्रूराचार से दुःखित हो विश्वेदेवों ने उनकी निन्दा की। इससे कुपित हो विश्वामित्र ने उन्हें मनुष्ययोनि में पैदा होने का शाप दे दिया। विश्वेदेवों ने शाप से मुक्ति पाने के लिए उनका अनुनय किया। तब उन्होंने कहा—"देखो, जो मैंने कह दिया वह मिथ्या नहीं हो सकता। मनुष्ययोनि में तो अब तुम्हें पैदा होना ही पड़ेगा, पर तुम्हें यह छूट दे देता हूँ कि न तो तुम्हारा विवाह ही होगा और न तुम्हें सन्तान होगी और न तुम्हें काम, क्रोध आदि मनोविकार अभिभूत कर सकेंगे। फलतः संसार में न फँसकर तुम शीघ्र ही मनुष्य-बन्धन से मुक्ति पा जाओगे।" उसके बाद यही विश्वेदेव द्रौपदी के पुत्र होकर पैदा हुये और अविवाहित ही अश्वत्थामा के हाथ मारे गये।

इस कथा से राजा और राज्य के आदर्शरूप का परिचय प्राप्त होता है और यह शिक्षा मिलती है कि क्रोध से विद्या का नाश हो जाता है। अतः विद्याभ्यासी मनुष्य को क्षमाशील, वाचंयम और संयमी होना चाहिये—

आठवां अध्याय

इस अध्याय में राजा हरिश्चन्द्र के शेष जीवन का वर्णन इस प्रकार है—

विश्वामित्र के अनुरोध पर राज्यदान की दक्षिणा का प्रबन्ध करने के निमित्त राजा अपनी पत्नी और पुत्र के साथ वाराणसी गये। वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण के हाथ अपनी पत्नी और पुत्र को तथा चाण्डाल के हाथ अपने आपको बेचकर विश्वामित्र को दक्षिणा दे सन्तुष्ट किया। एक दिन साँप के काटने से उनका पुत्र मर गया। उनकी रानी शैव्या उसे गोद में ले रोती - बिलखती उसी श्मशान पर पहुँची जहाँ वे अपने स्वामी चाण्डाल द्वारा मृतकों का कफन बटोरने के लिये नियुक्त किये गये थे। राजा और रानी के शरीर उस महान् कष्ट में इतने विकृत तथा परिवर्तित हो गये थे कि वे एक दूसरे को न पहचान सके। जब रानी अपना, अपने पुत्र का तथा राजा का नाम लेकर अपनी महाविपत्ति पर रुदन करने लगी तब राजा ने उसे पहचाना और वे दोनों शोकातुर हो विलाप करने लगे। अपने एकमात्र पुत्र के महावियोग से उत्पन्न उस दारुण दुःख को सहने में असमर्थ होकर राजा और रानी ने पुत्र के शव के साथ जल जाने का निश्चय किया। ज्योंही चिता पर शव रख वे चिता में प्रवेश करने को उद्यत हुये त्योंही देवराज, धर्मराज प्रभृति सभी प्रमुख देव गण वहाँ उपस्थित हो गये और धर्मराज ने राजा को उस साहस से विरत किया। देवराज ने अमृत-वर्षा कर राजपुत्र को जीवित कर दिया तथा पत्नी

और पुत्र के साथ देवलोक चलने को राजा से अनुरोध किया। राजा ने निवेदन किया कि वे अयोध्या की अपनी प्यारी प्रजा को अपने वियोग में व्यथित छोड़कर स्वर्ग नहीं जा सकते। जिस पुण्यराशि का फलभोग वे अकेले बहुत दिन तक कर सकते हैं वह चाहे एक ही दिन में क्षीण क्यों न हो जाय, पर वे अपनी सारी प्रजा के साथ ही अपनी पुण्यराशि का फलभोग करना चाहते हैं। देवराज ने ऐसी ही व्यवस्था करने का वचन दिया। तब सब लोग विमान द्वारा अयोध्या गये। महातपस्वी विश्वामित्र ने समस्त देवताओं के सम्मुख राजपुत्र रोहित को अयोध्या के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया तथा देवराज ने राजा-रानी तथा उनके प्रजाजनों को विमानों द्वारा स्वर्ग पहुँचवाया।

इस अध्याय के ये श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

कुतः पुष्टानि मित्राणि ? कुतोऽर्थः साम्प्रतं मम ?।
प्रतिग्रहः प्रदुष्टो में नाहं यायामधः कथम् ? ॥१३॥
किमु प्राणान् विमुञ्चामि ? कां दिशं याम्यकिञ्चनः ?।
यदि नाशं गमिष्यामि अप्रदाय प्रतिश्रुतम् ॥१४॥
ब्रह्मस्वहृत् कृमिः पापो भविष्याम्यधमाधमः।
अथवा प्रेष्यतां यास्ये वरमेवात्मविक्रयः ॥१५॥

राजा सोच रहे हैं—इस समय दक्षिणा का धन मुझे कहाँ से प्राप्त होगा ? किसी मित्र से माँगूँ, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि मेरे धनवान् मित्र कहाँ हैं ? प्रतिग्रह से प्राप्त करूँ, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह क्षत्रिय के लिये निन्द्य है। फिर क्या उपाय करूँ ? जिससे मेरी अधोगति न हो ॥ १३ ॥ क्या प्राणों को त्याग दूँ अथवा कहीं चला जाऊँ ? पर ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं क्योंकि प्रतिज्ञा किया हुआ धन विना दिये यदि मर जाऊँगा तो ब्रह्मस्व के हरण का पाप होगा और उससे अधमाधम पापमय कीट होना पड़ेगा। इसलिए उत्तम यह होगा कि आत्म-विक्रय कर दूसरे की दासता स्वीकार करूँ और उससे प्राप्त होनेवाले धन को देकर दक्षिणादान की प्रतिज्ञा पूर्ण करूँ ॥१४,१५॥

त्यज चिन्तां महाराज ! स्वसत्यमनुपालय।
श्मशानवद् वर्जनीयो नरः सत्यबहिष्कृतः ॥१७॥
नातः परतरं धर्मं वदन्ति पुरुषस्य तु।
यादृशं पुरुषव्याघ्र ! स्वसत्यपरिपालनम् ॥१८॥
अग्निहोत्रमधीतं वा दानाद्याश्चाखिलाः क्रियाः।
भजन्ते तस्य वैफल्यं यस्य वाक्यमकारणम् ॥१९॥
सत्यमत्यन्तमुदितं धर्मशास्त्रेषु धीमताम्।
तारणायानृतं तद्वत्पातनायाकृतात्मनाम् ॥२०॥

रानी राजा से कहती हैं—महाराज! चिन्ता छोड़ दो, सत्य का पलान करो, सत्य से च्युत मनुष्य श्मशान के समान त्याज्य होता है ॥ १७ ॥ पुरुष के लिये सत्यपालन से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ १८ ॥ जिसका वचन असत्य होता है, उसके अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, दान आदि समस्त पुण्य कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥१९॥ धर्मशास्त्रों में बड़ी दृढ़ता से सत्य को उत्थान का और असत्य को पतन का कारण कहा गया है ॥ २० ॥

सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी ।
सत्यं चोक्तं परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥४१॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥४२॥

सत्य से ही सूर्य तपता है। सत्य पर ही पृथ्वी स्थित है। सत्य ही सब से श्रेष्ठ धर्म है। स्वर्ग भी सत्य पर ही अधिष्ठित है ॥ ४१ ॥ एक पलड़े पर सहस्र अश्वमेध यज्ञ और दूसरे पलड़े पर एक सत्य को रखकर जब दोनों को तौला जाता है तब सहस्र अश्वमेध की अपेक्षा सत्य ही श्रेष्ठ ठहरता है ॥ ४२ ॥

मच्छोकमग्नमनसः कोशलानगरे जनाः ।
तिष्ठन्ति तानपोह्याथ कथं यास्याम्यहं दिवम् ? ॥२५२॥
ब्रह्महत्या गुरोर्घातो गोवधः स्त्रीवधस्तथा ।
तुल्यमेभिर्महापापं भक्तत्यागेऽप्युदाहृतम् ॥२५३॥
भजन्तं भक्तमत्याज्यमदुष्टं त्यजतः सुखम् ।
नेह नामुत्र पश्यामि तस्माच्छक्र! दिवं व्रज ॥२५४॥
यदि ते सहिताः स्वर्गं मया यान्ति सुरेश्वर !
ततोऽहमपि यास्यामि नरकं वाऽपि तैः सह ॥२५५॥
शक्र! भुङ्क्ते नृपो राज्यं प्रभावेण कुटुम्बिनाम् ।
भजते च महायज्ञैः कर्म पौर्तं करोति च ॥२५७॥
तच्च तेषां प्रभावेण मया सर्वमनुष्ठितम् ।
उपकर्तॄन्न संत्यक्ष्ये तानहं स्वर्गलिप्सया ॥२५८॥
तस्माद् यन्मम देवेश! किञ्चिदस्ति सुचेष्टितम् ।
दत्तमिष्टमथो जप्तं सामान्यं तैस्तदस्तु नः ॥२५९॥
बहुकालोपभोग्यं हि फलं यन्मम कर्मणः ।
तदस्तु दिनमप्येकं तैः समं त्वत्प्रसादतः ॥२६०॥

राजा इन्द्र से कह रहे हैं—अयोध्या में लोग मेरे शोक में मग्न पड़े हैं, उन्हें छोड़कर मैं स्वर्ग कैसे जा सकूँगा ॥२५२॥ शास्त्रों में कहा गया है कि भक्त

की उपेक्षा करने वाले को ब्रह्महत्या, गुरुहत्या, गोहत्या तथा स्त्रीहत्या के समान महान् पाप होता है ॥२५३॥ त्याग न करने योग्य, निर्दोष तथा भजन-परायण भक्त को जो त्यागता है उसे इस लोक तथा परलोक में कहीं भी सुख नहीं प्राप्त होता; अतः इन्द्र ! आप स्वर्ग को लौट जांय ॥२५४॥ यदि वे सबके सब मेरे साथ स्वर्ग जा सकें तभी मैं स्वर्ग जाना पसन्द करूँगा, अन्यथा उनके साथ मुझे नरक जाना ही पसन्द होगा ॥२५५॥ कुटुम्बियों के सहयोग से ही राजा राज्य का पालन तथा यज्ञ एवं पूर्त कर्मों का अनुष्ठान करता है ॥२५७॥ मैंने भी ये सब कार्य अयोध्या के अपने प्रजाजनों के सहयोग से ही किये हैं, स्वर्ग के लालच से मैं अपने उन उपकारी बन्धुओं को कदापि न छोड़ूँगा ॥२५८॥ इसलिये देवराज ! मैं चाहता हूँ कि यज्ञ, दान, जप आदि जो भी मेरे सत्कर्म हैं वे केवल मेरे न रहकर मेरी समस्त प्रजाओं के भी हों ॥२५९॥ अपने कर्म का जो फल मैं अकेला बहुत दिन तक भोगता, मैं चाहता हूँ कि वह फल, भले ही मैं एक ही दिन क्यों न भोगूँ, पर आपकी कृपा से अपनी सारी प्रजा के साथ भोगूँ ॥२६०॥

नवां अध्याय

वशिष्ठ मुनि राजा हरिश्चन्द्र के पुरोहित थे। जिन दिनों राजा कष्ट में थे उन दिनों वशिष्ठ जी गङ्गाजल में रहकर तपस्या कर रहे थे। जब बारह वर्ष के बाद वे जल से बाहर आये और उनको यह ज्ञात हुआ कि विश्वामित्र के कारण राजा को इतना घोर कष्ट हुआ तब उन्होंने विश्वामित्र को उनके अमानवोचित कर्म के दण्ड रूप में बक पक्षी हो जाने का शाप दिया। विश्वामित्र तो परम क्रोधी तथा वशिष्ठ के सहज शत्रु थे। अतः उन्होंने भी वशिष्ठ को सारस पक्षी हो जाने का शाप दिया। फलतः वे दोनों बक और सारस होकर परस्पर युद्ध करने लगे। दोनों ओर से चिरसञ्चित तपोबल का प्रयोग होने से वह युद्ध बड़ा भीषण हो गया और सारा विश्व उस युद्धानल की ज्वाला से जलने लगा। यह दशा देख देवताओं ने ब्रह्माजी से युद्ध बन्द कराने की प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने लोकहित के विचार से उन्हें पक्षिशरीर से मुक्त कर उनकी तामस भावना दूर की और सामान्य जन की भांति क्रोध के वश में आकर दुःख से अर्जित तपःशक्ति का क्षय करने की उनकी प्रवृत्ति की भर्त्सना की। ब्रह्माजी के प्रबोधन से दोनों बड़े लज्जित हुए और युद्ध बन्द कर उनसे क्षमा मांगी तथा परस्पर मेल-जोल कर अपने अपने स्थान को चले गये।

इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि क्रोध से बचना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े तपस्वी भी उसकी चपेट में आ जाते हैं। अतः मनुष्य को क्रोध से बचने के लिये बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये।

दसवां अध्याय

इस अध्याय में जैमिनियों ने प्राणी के जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न किया है और उसके उत्तर में पक्षियों ने उन्हें एक कथा सुनायी है, जो इस प्रकार है—

पूर्व काल में भार्गव नाम के एक ब्राह्मण थे। उन्होंने अपने सुमति नामक पुत्र का उपनयन संस्कार करके उपदेश दिया कि उसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्न्यास—इन चार आश्रमों में क्रम से प्रवेश करना चाहिये। उन आश्रमों के कर्तव्यों का पालन करने से अन्त में उसे ब्रह्मप्राप्ति होगी। इस उपदेश को सुन कर पुत्र ने कहा कि उसे अपने अनेक जन्मों का स्मरण है। उसने न जाने कितनी बार वेदाध्ययन तथा आश्रमधर्मों का पालन किया है, पर उससे कुछ लाभ न हुआ। वह मार्ग तो प्रवृत्ति का मार्ग है। उस मार्ग को ग्रहण करने पर मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतः अब वह उस मार्ग पर नहीं जायगा। वह तो उस परम तत्त्वज्ञान को आयत्त करेगा जिसके निकट वह पूर्व जन्मों के अभ्यास से पहुँच गया है और जिसे पूर्णतया आयत्त कर लेने पर मनुष्य को निश्चित रूप से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इसी प्रसङ्ग में जन्म-मृत्यु के चक्र की दुःखरूपता और दुस्तरता बताने के उद्देश्य से सुमति ने कर्मफल की अनिवार्यता और विचित्रता का विस्तृत वर्णन किया है, जो सैंतालीसवें श्लोक से अध्याय के अन्त तक प्रसृत है। इस प्रकरण के अध्ययन से ये बातें अवगत की जा सकती हैं कि मृत्यु किस प्रकार होती है। किस प्रकार के आचरण एवं जीवन से मनुष्य को सुखमृत्यु प्राप्त होती है तथा किस प्रकार के आचरण और जीवन से दुःखमृत्यु प्राप्त होती है। रौरवनामक नरक कितना विशाल और भीषण है। किस प्रकार के दुष्कर्मी इस नरक में जाते हैं और उन्हें कौनसी वेदनायें तथा यातनायें भोगनी पड़ती हैं। नरक से निकलने पर किन किन योनियों से होकर जीव मनुष्ययोनि में जन्म प्राप्त करता है। स्वर्ग और मृत्युलोक में पुण्यकर्मा मनुष्यों का यातायात किस प्रकार होता है।

ग्यारहवां अध्याय

इस अध्याय में ये बातें बतायी गयी हैं कि माता के गर्भ में जीव के नवीन शरीर की रचना का आरम्भ होकर उसका विकास किस प्रकार होता है तथा उसमें जीव का सम्बन्ध कब और कैसे घटित होता है। गर्भ के भीतर शरीर की रक्षा कैसे होती है। गर्भस्थ जीव की मनोदशा क्या होती है। किस प्रकार

वह गर्भ से बाहर आता है और किस प्रकार उसका विकास होता है। बाल्य, कौमार, यौवन और वृद्धावस्था को पार करता हुआ मनुष्य किस प्रकार मृत्यु और जन्म तथा जन्म और मृत्यु के चक्र में परवश पड़ा रहता है। स्वर्ग में भी आरम्भ से ही उसे कौन-सी चिन्ता ग्रस्त किये रहती है। किस प्रकार संसार नितान्त असुख और दुःखमय होने से सर्वतोभावेन त्यागने योग्य है।

बारहवां अध्याय

इस अध्याय में महारौरव, तम, निकृन्तन; अप्रतिष्ठ, असिपत्र और तप्त-कुम्भ नाम के नरकों की सुविशाल परिधि तथा उनमें होने वालीद ारुणतम यातनाओं का विस्तृत एवं रोमाञ्चकारी वर्णन है।

तेरहवां अध्याय

इस अध्याय में सुमति ने अपने वर्तमान जन्म से पूर्व सातवें जन्म की घटना का वर्णन करते हुये बताया है कि एक बार पौंसले पर पानी पीने को जाती हुई गौओं को रोकने के कारण मृत्यु के बाद जब वह नरक में पड़ा था, एक दिन सहसा उसे शीतल समीर के सुखद स्पर्श का अनुभव हुआ। उस असम्भा-वित सुखानुभव से विस्मित होकर वह उस सुख के कारण की खोज करने लगा। इतने में उसने एक नररत्न को एक यमदूत से, जो उसे मार्ग दिखा रहा था, यह प्रश्न करते हुये देखा—"यमदूत! यह तो बताओ कि मैंने ऐसा कौन सा पाप किया है जिसके कारण मुझे इस भयंकर नरक में आना पड़ा है; मेरा जन्म जनकवंश में हुआ। मैं विदेह में विपश्चित् नाम से विख्यात राजा था। मैं प्रजा-जनों का भलीभाँति पालन करता था। मैंने अनेक यज्ञ किये। धर्मानुसार पृथ्वी का पालन किया। कभी युद्ध में पीठ नहीं दिखायी और किसी अतिथि को कभी निराश नहीं लौटने दिया। पितरों, देवताओं, ऋषियों तथा भृत्यजनों को उनका भाग दिये विना मैंने कभी भोजन नहीं किया। परस्त्री और परधन की ओर कभी मेरा मन नहीं गया। देवकर्म और पितृकर्म में मैं सदा सावधान रहा। किसी प्राणी को किसी प्रकार का किञ्चिन्मात्र भी उद्वेग करने वाला कोई कार्य मैंने कभी नहीं किया। फिर क्या कारण है कि मुझे इस अत्यन्त दारुण नरक में आना पड़ा?"

चौदहवां अध्याय

राजा के उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में यमदूत ने बताया—"एक बार ऋतुमती भार्या को आपने ऋतुदान नहीं दिया, बस, इसी एक अपराध के कारण कुछ क्षणों के लिये नरक का दुःखमय दृश्य देखने मात्र के लिये आप को यहाँ

आना पड़ा है और अब अपने पुण्यकर्मों का भोग करने के लिये आप पुण्य-लोक में चलें।" राजाने कहा-"यमदूत! तुम्हारे निर्देश के अनुसार तो मुझे चलना ही है किन्तु पहले यह तो बताओ कि नरक में पड़े हुये ये दीन जीव जिन भिन्न-भिन्न यातनाओं का भोग कर रहे हैं वे किस प्रकार के कुकर्मों के फल हैं?" यमदूत ने इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न दुष्कर्मों के भिन्न-भिन्न फलों का वर्णन इस अध्याय के अन्त तक प्रस्तुत किया है। जिज्ञासुजनों को मूलग्रन्थ से ही इसका अध्ययन करना चाहिये।

इस अध्याय के निम्नाङ्कित श्लोक संग्राह्य हैं—

पुण्यापुण्ये हि पुरुषः पर्यायेण समश्नुते।
भुञ्जतश्च क्षयं याति पापं पुण्यमथापि वा ॥१६॥
न तु भोगादृते पुण्यं किञ्चिद्वा कर्म मानवम्।
पापकं वा पुनात्याशु क्षयो भोगात्प्रजायते ॥१७॥

पुण्य और पाप को मनुष्य क्रम से भोगता है। भोग से पाप तथा पुण्य का क्षय होता है ॥१६॥ मनुष्य का कोई भी कर्म, पाप अथवा पुण्य बिना भोग के प्रक्षीण नहीं होता। भोग से शीघ्र ही उसका क्षय हो जाता है ॥१७॥

पन्द्रहवां अध्याय

इस अध्याय में पहले यह वर्णन किया गया है कि नरक से निकलने के बाद जीव किस पाप से किस योनि में जन्म प्राप्त करता है और बाद में उन लक्षणों को बताया गया है जिनसे ज्ञात किया जा सकता है कि कौन व्यक्ति नरक से लौटा है और कौन व्यक्ति स्वर्ग से लौटा है। इसके पश्चात् यह बताया गया है कि यह सब संवाद हो जाने के बाद जब राजा यमदूत के कथनानुसार पुण्य लोक में जाने के लिये वहाँ से प्रस्थान करने लगे तब उस नरक के प्राणी विकल हो कर कहने लगे-"महाराज! कृपा कर थोड़ा और ठहरिये। आप के शरीर को छूकर बहने वाली हवा हमें सुख दे रही है तथा हमारे सन्ताप और वेदना का हरण कर रही है।" राजा ने पूछा—"यमदूत! मैंने ऐसा कौन सा महान् पुण्य किया है जिसके कारण मेरे सन्निधानमात्र से इन प्राणियों के लिये आनन्द की वर्षा हो रही है?" यमदूत ने बताया, "राजन्! आपका शरीर देवताओं, पितरों, अतिथियों और भृत्यजनों से बचे हुये अन्न के सेवन से पुष्ट हुआ है तथा आपका मन भी उन्हीं सब की सेवा में लगा रहा है; इसीलिये आपके शरीर का स्पर्श करके बहने वाली वायु नारकीय जीवों को सुख प्रदान करती है और उसके लगने से उन्हें नरक की यातना उतनी कष्टदायक नहीं प्रतीत होती।" यह सुन कर राजा ने कहा—

"भाई ! मेरी तो यह धारणा है कि पीड़ित प्राणियों को दुःख से मुक्त करके उन्हें शान्ति प्रदान करने से जो सुख मिलता है, वह मनुष्यों को स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोक में भी नहीं प्राप्त होता। यदि मेरे समीप रहने से इन दुखी जीवों की नरक-यातना का कष्ट कम होता है तो मैं सूखे काष्ठ के समान अचल हो कर यहीं रहूँगा।" इतने में धर्मराज और देवराज भी वहाँ उपस्थित होकर स्वर्गलोक चलने के लिये राजा से अनुरोध करने लगे। राजा ने कहा—"यदि मेरे सन्निधान से इन नारकीय जीवों का उद्धार न होगा तो इन्हें मेरे सम्पर्क की स्पृहा क्यों होगी ? इसलिये मेरी यह इच्छा है कि मैंने आजतक जो कुछ सुकृत सञ्चित किया है उसके प्रभाव से ये दीन-दुःखी जीव नरक से उद्धार प्राप्त करें।" राजा के इस असाधारण अपूर्व त्याग से उनका सुकृत अनन्त गुना बढ़ गया और उसके प्रभाव से वहाँ के सभी प्राणी नरक-यातना से मुक्त हो अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न उत्तम योनियों में चले गये और राजा को स्वयं भगवान् विष्णु विमान में बिठा कर अपने दिव्य धाम में ले गये। इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः।
यदार्त्तजन्तुनिर्व्वाणदानोत्थमिति मे मतिः ॥५९॥
धिक् तस्य जीवनं पुंसः शरणार्थिनमातुरम्।
यो नार्त्तमनुगृह्णाति वैरिपक्षमपि ध्रुवम् ॥६०॥
यज्ञदानतपांसीह परत्र च न भूतये।
भवन्ति तस्य यस्यार्त्तपरित्राणे न मानसम् ॥६१॥
नरस्य यस्य कठिनं मनो बालातुरादिषु।
वृद्धेषु च न तं मन्ये मानुषं राक्षसो हि सः ॥६२॥

मेरा मत है कि मनुष्य किसी आर्त्त प्राणी को पीडा से मुक्त कर जो सुख प्राप्त करता है वह उसे स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोक में भी नहीं प्राप्त होती ॥५९॥ उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है जो शरण में आये आर्त्त आतुर पर, चाहे, वह शत्रुपक्ष का ही क्यों न हो, अनुग्रह नहीं करता ॥६०॥ जिस मनुष्य का चित्त आर्त की रक्षा के लिये उत्साहित नहीं होता उसके यज्ञ, दान और तप इस लोक अथवा परलोक में कहीं भी कल्याणकारक नहीं होते ॥६१॥ जिस मनुष्य का चित्त बालक, आतुर और वृद्धों के प्रति कठोर होता है, मैं उसे मनुष्य नहीं मानता, वह तो निश्चय ही राक्षस है ॥६२॥

सोलहवां अध्याय

इस अध्याय में सुमति ने अपने पिता को महायोगी दत्तात्रेय द्वारा राजा अलर्क के प्रति किये गये योगोपदेश को सुनाने की प्रस्तावना करते हुये उन दोनों का परिचय देने के प्रसङ्ग में एक पतिव्रता नारी के उत्तम कथानक का वर्णन किया है जिससे पातिव्रत्य की अलौकिक महिमा का मूर्त अभिव्यंजन होता है। कथानक इस प्रकार है—

प्राचीन समय में एक कौशिक नाम का ब्राह्मण था। वह अपने पूर्व पापों के कारण कोढ़ी हो गया था। वह नितान्त निष्ठुर और क्रोधी था तथा प्रतिक्षण अपनी पत्नी को डांटता-फटकारता रहता था। पर उसकी पत्नी इतनी साध्वी, विनीता और पतिव्रता थी कि वह अपने उस कोढ़ी, निकम्मे तथा क्रूर पति को ही अपना परमेश्वर मानकर उसका पूजन करती थी एवं उसके किसी भी दुर्वचन या दुर्व्यवहार से किञ्चिन्मात्र भी अपरक्त न होकर उसकी सर्वविध सेवा में सर्वतोभावेन संलग्न रहा करती थी। एक दिन वह पतिपरायणा देवी पति की आज्ञा से उसे कन्धे पर बिठाकर एक वेश्या के घर ले जा रही थी। रात्रि का समय था। मार्ग में एक सूली थी जिस पर चोरी के सन्देह से माण्डव्य नामक निरपराध ब्राह्मण चढ़ा दिया गया था। अँधेरे के कारण दिखाई न पड़ने से कोढ़ी के पैर से आहत हो सूली हिल गयी जिससे ब्राह्मण को बड़ा कष्ट हुआ। ब्राह्मण ने क्रोध में आकर शाप दिया कि जिसके कारण सूली हिलने से मुझे दुःख हुआ है वह सूर्योदय होते ही मर जायगा। इस पर उस पतिव्रता ने अपने पातिव्रत्य के बल से सूर्य का उदय ही रोक दिया। इससे जनता में बड़ा हाहाकार मच गया। स्नान, दान अग्निहोत्र आदि सारी क्रियायें बन्द हो गईं। इस घटना से भयभीत होकर देवगण ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी ने उन्हें अत्रि की पत्नी सतीशिरोमणि अनसूयाजी के पास भेजा। अनसूयाजी ने उन्हें आश्वासन देकर उस पतिव्रता ब्राह्मणी के पास जा उसे समझाया कि "देखो बहिन! यदि सूर्य का उदय न होगा तो सारे संसार का उच्छेद हो जायगा। इसलिये तुम दया कर सूर्य का उदय होने दो जिससे जगत् के सारे कार्य यथावत् हो सकें। रही तुम्हारे पति की बात, सो तुम विश्वास मानो कि मैं अपने अखण्ड पातिव्रत्य के बल से उन्हें पुनर्जीवित कर तरुण और स्वस्थ शरीर प्रदान करूँगी।" ब्राह्मणी ने अनसूया जी की बात मान ली। सूर्योदय को रोक रखने का संकल्प छोड़ दिया। फलतः सद्यः सूर्योदय हो गया और तत्काल ही ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी। अनसूयाजी ने उसी समय यह संकल्प किया कि ब्राह्मण नीरोग, तरुण एवं स्वस्थ शरीर पाकर अपनी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे। फिर क्या था। सती अन-

सूया का यह संकल्प होते ही ब्राह्मण रोगमुक्त हो तरुण एवं सुपुष्ट शरीर के साथ जीवित हो उठा। देवताओं ने अनसूयाजी का जयजयकार किया और उनसे वर मांगने को कहा। अनसूयाजी ने, ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अपने पुत्र के रूप में प्रकट होने का वर मांगा। देवताओं ने 'तथाऽस्तु' कहा और अपने अपने स्थान को सानन्द प्रस्थान किया।

इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

वयमाप्यायिता मर्त्यैर्यज्ञभागैर्यथोचितैः।
वृष्ट्याताननुगृह्णीमो मर्त्यान् शस्यादिसिद्धये ॥३८॥
निष्पादितास्वोषधीषु मर्त्या यज्ञैर्यजन्ति नः।
तेषां वयं प्रयच्छामः कामान् यज्ञादिपूजिताः ॥३९॥
अधो हि वर्षाम वयं मर्त्याश्चोर्ध्वं प्रवर्षिणः।
तोयवर्षेण हि वयं हविर्वर्षेण मानवाः ॥४०॥
ये नास्माकं प्रयच्छन्ति नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः।
क्रतुभागं दुरात्मानः स्वयं चाश्नन्ति लोलुपाः ॥४१॥
विनाशाय वयं तेषां तोयसूर्याग्निमारुतान्।
क्षितिं च सन्दूषयामः पापानामपकारिणाम् ॥४२॥
दुष्टतोयादियोगेन तेषां दुष्कृतकर्मिणाम्।
उपसर्गाः प्रवर्तन्ते मरणाय सुदारुणाः ॥४३॥
ये त्वस्मान् प्रीणयित्वा तु भुञ्जते शेषमात्मना।
तेषां पुण्यान् वयं लोकान् विदधाम महात्मनाम् ॥४४॥

देवगण कहते हैं—जब मनुष्य यज्ञ के यथोचित भाग देकर हमें तृप्त करते हैं तब शस्य आदि की सिद्धि के लिये वृष्टि की व्यवस्था कर हम उन्हें अनुगृहीत करते हैं ॥३८॥ ओषधियों की निष्पत्ति होने पर मनुष्य यज्ञों द्वारा हमारा यजन करते हैं और यज्ञ आदि से पूजित होकर हम उन्हें इष्ट वस्तु प्रदान करते हैं ॥३९॥ हम नीचे की ओर जल की वर्षा करते हैं और मनुष्य ऊपर की ओर हवि की वर्षा करते हैं ॥४०॥ जो दुरात्मा नित्य नैमित्तिक क्रियायें नहीं करते, हमें यज्ञों का भाग नहीं देते, लोभवश स्वयं ही सब कुछ खा जाते हैं, हम उन अपकारी पापी जनों का विनाश करने के लिये सूर्य, अग्नि, वायु और पृथ्वी को दूषित कर देते हैं ॥४१, ४२॥ दोषयुक्त जल आदि के सेवन से उन दुष्कर्मियों को अनेक प्रकार के भयंकर रोग होते हैं जिनसे उनकी मृत्यु हो जाती है ॥४३॥ जो लोग हमें तृप्त कर यज्ञ के अवशिष्ट भाग का भक्षण करते हैं, हम उन महात्माओं को पुण्य लोक प्रदान करते हैं ॥४४॥

स्त्रियस्त्वेवं समस्तस्य नरैर्दुःखार्जितस्य वै।
पुण्यस्यार्धापहारिण्यः पतिशुश्रूषयैव हि ॥६०॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्।
भर्तृशुश्रूषयैवैतान् लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि ॥६१॥
तस्मात् साध्वि! महाभागे! पतिशुश्रूषणं प्रति।
त्वया मतिः सदा कार्या यतो भर्ता परा गतिः ॥६२॥
यद्देवेभ्यो यच्च पित्रागतेभ्यः
कुर्याद् भर्ताऽभ्यर्चनं सत्क्रियातः।
तस्याप्यर्धं केवलानन्यचित्ता
नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव ॥६३॥

अनसूयाजी कहती हैं—पुरुष बड़ा क्लेश उठाकर जिस पुण्य का संचय करते हैं, स्त्रियाँ केवल पतिसेवा से ही उस समस्त पुण्य का आधा भाग प्राप्त कर लेती हैं ।। ६० ।। स्त्रियों के लिये यज्ञ, श्राद्ध अथवा उपवास का पृथक् विधान नहीं है, वे पति की सेवामात्र से इष्टलोकों की प्राप्ति कर लेती हैं ॥६१॥ इसलिये महाभागे! पतिसेवा में सदैव अपनी बुद्धि स्थिर रक्खो, क्योंकि पति ही नारी की श्रेष्ठ गति है ।। ६२ ।। देवता, पितर तथा अतिथियों का सत्कारपूर्वक पूजन कर पति जो कुछ भी अर्जित करता है उसके आधे भाग को नारी केवल अनन्य भाव से पति की सेवा करके प्राप्त कर लेती है ।। ६३ ।।

सत्रहवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह कथा वर्णित है कि अत्रि ऋषि की पत्नी महापतिव्रता अनसूयाजी ने देवताओं से प्राप्त हुये वर के अनुसार ब्रह्मा को सोम, विष्णु को दत्तात्रेय तथा शंकर को दुर्वासा के रूप में उत्पन्न किया। सोम को आकाश में स्थान मिला। अपनी शीतल रश्मियों से लता, ओषधि तथा मनुष्यों का आप्यायन करना उनका कार्य नियत हुआ। दुर्वासा ने गृह त्याग कर उन्मत्त नामक उत्तम व्रत को धारण कर पृथ्वी में पर्यटन करना पसन्द किया। दत्तात्रेय महायोगी हुये। वे असंग रहना चाहते थे किन्तु लोग उनके गुणों से मुग्ध हो उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्हें विषयी समझ लोग उनसे अपरक्त हो जायँ इस विचार से उन्होंने अपने साथ एक सुन्दरी तरुणी रख ली। जब उस पर भी लोगों ने उन्हें नहीं छोड़ा तब उन्होंने उस तरुणी के साथ मद्यपान करना आरम्भ कर दिया और नाच-गान आदि विलास-लीलाओं में रत रहने लगे। उनकी यह दशा देख उन्हें विकृत एवं दूषित समझ कर लोगों ने उनका साथ छोड़ दिया। वे योगीश्वर थे अतः दिखावे के लिये

उक्त प्रकार के भोगों में लगे रहने पर भी वे उनसे प्रभावित न हो सर्वथा निर्लेप बने रहे।

अठारहवाँ अध्याय

राजा कृतवीर्य के दिवंगत हो जाने पर उनके मन्त्री, पुरोहित तथा नागरिकों ने जब उनके पुत्र अर्जुन को राज्यासन पर अभिषिक्त करने का आयोजन किया तब अर्जुन ने यह कह कर राज्य लेना अस्वीकार कर दिया कि राजा के कर्तव्य का पालन बड़ा कठिन है। राजधर्म का समुचित निर्वाह एक अच्छा योगी ही कर सक्ता है। मैं योगशक्ति से शून्य होने के कारण राज्य स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। यह सुनकर महामुनि गर्ग ने अर्जुन को सम्मति दी कि राज्य का सुन्दर शासन करने की क्षमता प्राप्त करने के निमित्त उन्हें महायोगी दत्तात्रेय की आराधना करनी चाहिये। उन्होंने यह भी बताया कि देवताओं ने बृहस्पति के आदेश से दत्तात्रेय की आराधना करके ही असुरों पर विजय प्राप्त की थी और देवराज ने असुरों से छीने हुये इन्द्रपद को पुनः प्राप्त किया था। इस अध्याय के निम्नलिखित श्लोक संग्राह्य हैं—

नाहं राज्यं करिष्यामि मन्त्रिणो! नरकोत्तरम्।
यदर्थं गृह्यते शुल्कं तदनिष्पादयन् वृथा ॥२॥
पण्यानां द्वादशं भागं भूपालाय वणिग्जनः।
दत्त्वाऽर्थरक्षिभिर्मार्गे रक्षितो याति दस्युतः ॥३॥
गोपाश्च घृततक्रादेः षड्भागं च कृषीवलाः।
दत्त्वाऽन्यद् भूभुजे दद्युर्यदि भागं ततोऽधिकम् ॥४॥
पण्यादीनामशेषाणां वणिजो गृह्णतस्ततः।
इष्टापूर्तविनाशाय तद्राज्ञश्चौरधर्मिणः ॥५॥
यद्यन्यैः पाल्यते लोकस्तद्वृत्त्यन्तरसंश्रितः।
गृह्णतो बलिषड्भागं नृपतेर्नरको ध्रुवम् ॥६॥
निरूपितमिदं राज्ञः पूर्वैः रक्षणवेतनम्।
अरक्षँश्चौरतश्चौर्यं तदेनो नृपतेर्भवेत् ॥७॥
तस्माद् यदि तपस्तप्त्वा प्राप्स्ये योगित्वमीप्सितम्।
भुवः पालनसामर्थ्ययुक्त एको महीपतिः ॥८॥
पृथिव्यां शस्त्रधृङ् नान्यस्त्वहमेवर्द्धिसंयुतः।
ततो भविष्ये नात्मानं करिष्ये पापभागिनम् ॥९॥

अर्जुन का कथन है—मन्त्रियों! राज्य का फल नरक है अतः मैं उसे नहीं ग्रहण करूँगा। जिस उद्देश्य से प्रजा से कर लिया जाता है यदि उसको

पूर्ति न की जा सके तो राज्य का लेना व्यर्थ है॥ २॥ वैश्य अपनी आय का बारहवाँ भाग राजा को इसलिए देते हैं कि वे मार्ग में लुटेरों द्वारा लूटे न जायँ। राजकीय अर्थरक्षकों द्वारा सुरक्षित होकर वे व्यापार के लिये यात्रा कर सकें॥ ३॥ ग्वाले घी, तक्र आदि का तथा किसान अनाज का छठाँ भाग राजा को इसी उद्देश्य से देते हैं। जो राजा वैश्यों से उनकी सम्पूर्ण आय का अधिकांश भाग लेता है वह चोर है। इससे उसके इष्ट और पूर्त कर्मों का नाश होता है॥ ४, ५॥ यदि राजा को कर देकर भी प्रजा को अपनी रक्षा के लिये अन्य उपाय का अवलम्बन करना पड़े और राजा से अतिरिक्त किन्हीं अन्य व्यक्तियों से उसकी रक्षा हो तो कर लेने वाले राजा को निश्चय ही नरक जाना पड़ता है॥ ६॥ महर्षियों ने प्रजा की आय के छठे भाग को प्रजा की रक्षा के लिए राजा का वेतन नियत किया है। इस लिये राजा यदि चोरों से प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता तो उसे पाप होता है॥ ७॥ यदि मैं तपस्या करके अभीप्सित योगशक्ति प्राप्त कर लूँ, पृथ्वी में मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई शस्त्र-धारी न रहे. तथा मैं अपूर्व समृद्धि से सम्पन्न हो सकूँ तभी मैं पृथ्वी के पालन की शक्ति से युक्त एकमात्र राजा हो सकता हूँ, क्योंकि उस दशा में अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह कर सकने के कारण मुझे पाप का भागी न होना पड़ेगा॥ ८, ९॥

उन्नीसवाँ अध्याय

गर्गजी के कथनानुसार श्रीदत्तात्रेय के निकट जाकर कार्तवीर्य अर्जुन ने उनका विधिवत् विशिष्ट पूजन किया। श्रीदत्तात्रेय ने अपने चरित्र को मद्यपान, स्त्री-सम्पर्क आदि से दूषित बताते हुए पहले तो अर्जुन को टालने का यत्न किया, किन्तु जब अर्जुन ने उन सब बातों को सुनने के बाद भी अपनी भक्तिदृढ़ता दिखाई तब उन्होंने प्रसन्न हो वर मांगने का संकेत किया। अर्जुन ने धर्म-पूर्वक प्रजा का सम्यक् पालन कर सकने के निमित्त वर पाने के हेतु यह अभ्यर्थना की—"मैं दूसरे के मन की बात जान लूँ, युद्ध में कोई मेरा सामना न करसके। युद्ध के निमित्त मुझे बलशाली सहस्र बाहु प्राप्त हों और उन्हें मैं अनायास वहन कर सकूँ। पर्वत, आकाश, जल, पृथ्वी और पाताल में कहीं भी मेरी गति का रोध न हो। यदि कभी मेरा वध हो तो मुझसे श्रेष्ठ पुरुष के हाथ हो। यदि कभी मैं उन्मार्ग पर जाने लगूँ तो मुझे सन्मार्गदर्शक उपदेशक प्राप्त हो। मुझे उत्तम अतिथि प्राप्त हों। सदा दान देते रहने पर भी मेरा धन कभी भी क्षीण न हो। मेरे स्मरणमात्र से मेरे सम्पूर्ण राष्ट्र में धन

का अभाव दूर हो जाय। आप में मेरी अनन्य भक्ति बनी रहे"। श्रीदत्तात्रेय ने उक्त वरदान देते हुए अर्जुन को चक्रवर्ती सम्राट् होने का आशीर्वाद दिया। घर लौटने पर बड़े समारोह से अर्जुन का राज्याभिषेक हुआ, जिसमें देव, गन्धर्व, अप्सरायें, ऋषि, मुनि तथा देश की जनता आदि सभी ने सोत्साह भाग लिया। अर्जुन ने राज्यासन पर आरूढ़ होते ही अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा करने की घोषणा की। राज्य में अन्य लोगों को शस्त्र रखने की मनाही कर दी। वे स्वयं ही सबके धन, जन और जीवन की रक्षा करने लगे। उनके राज्य में सारी प्रजा अपने अधिकार के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करती हुई अपनी सर्वतोमुख उन्नति का साधन करती थी। किसी को कोई असन्तोष न था। सब लोग सुख-शांति के साथ जीवनयापन करते थे। उनके आदर्श राज्य को देख अङ्गिरा मुनि ने उनकी प्रशंसा में कहा था—

न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः।
यज्ञैर्दानैस्तपोभिर्वा संग्रामे चातिचेष्टितैः ॥२४॥

यज्ञ, दान, तप, संग्राम, तथा पराक्रममें कोई राजा अर्जुन की तुलना न कर सकेगा।

बीसवाँ अध्याय

प्राचीनकाल में शत्रुजित् नाम के एक बड़े धार्मिक राजा थे। उनके ऋतध्वज नाम का एक पुत्र था। वह बड़ा बुद्धिमान्, बलवान्, रूपवान्, नीतिज्ञ तथा शस्त्र और शास्त्र में विशारद था। पातालपति नागराज अश्वतर के पुत्रों से उसकी बड़ी मित्रता थी। वे प्रतिदिन ऋतध्वज के यहाँ आते थे और दिन भर उसके साथ रहकर साम को अपने घर लौट जाते थे। एक दिन पिता के पूछने पर नागपुत्रों ने ऋतध्वज के साथ अपनी मित्रता की बात बतलायी तथा उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। नागराज ने कहा—ठीक है, पर यह तो बताओ कि ऐसे योग्य मित्र का तुम लोगों ने भी कभी कोई सत्कार किया? तुम्हारे घर में उत्तम से उत्तम जो वस्तु हो उसे देकर तुम्हें अपने मित्र का सत्कार करना चाहिये। पुत्रों ने कहा—पिता जी! हम उन्हें क्या दे सकते हैं? हमारे यहाँ ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमारे मित्र के घर विपुल मात्रा में न हो। हमारा मित्र समस्त वांछनीय वस्तुओं से सम्पन्न है। हाँ, उसका एक कार्य है, पर वह असाध्य है, हमारे मत से ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उस कार्य को नहीं कर सकता। पिता ने कहा—पुत्रों! तुम्हारी यह धारणा ठीक नहीं है, बुद्धिमानों के लिए कोई कार्य असाध्य नहीं

होता, उद्यम से सब कुछ हस्तगत किया जा सकता है। मुझे बताओ तो कि वह कार्य क्या है? पुत्रों ने कहा—एक दिन गालव नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्तम अश्व लेकर हमारे मित्र के पिता राजा शत्रुजित् के निकट आये और बोले राजन्! यह अश्व आकाश से अवतीर्ण हुआ है और आकाशवाणी से यह ज्ञात हुआ है कि आकाश, पाताल, जल, समस्त दिशावों तथा पहाड़ों में कहीं भी इसकी गति न रुकेगी। यह निरन्तर श्रम करते रहने पर भी कभी न थकेगा। सारे भूमण्डल की अश्रान्त भाव से परिक्रमा कर सकने के कारण यह कुवलय नाम से प्रसिद्ध होगा और आप का पुत्र ऋतध्वज इस पर आरूढ़ हो कर समस्त धर्मविरोधियों का वध करेगा तथा इसके द्वारा महती ख्याति प्राप्त करेगा। अतः यह अश्व ऋतध्वज के लिए आपको भेंट करता हूँ, आप कृपा कर अपने पुत्र को इसे दें और धर्म-रक्षा के हेतु मेरे साथ जाने की आज्ञा उसे प्रदान करें। यह सुनकर राजा ने धर्मरक्षा करने के निमित्त हमारे मित्र को उन ब्राह्मण देवता के साथ शुभ मुहूर्त में विदा किया। इस अध्याय के निम्न श्लोक संग्राह्य हैं—

यस्य मित्रगुणान्मित्राण्यमित्राश्च पराक्रमम्।
कथयन्ति सदा सत्सु पुत्रवाँस्तेन वै पिता ॥२५॥

मित्र जिसके मित्रोचित गुणों की और शत्रु जिसके पराक्रम की सज्जनों के बीच सदा प्रशंसा करते हैं उसी पुत्र से पिता पुत्रवान् होता है ॥२५॥

स धन्यो जीवितं तस्य तस्य जन्म सुजन्मनः।
यस्यार्थिनो न विमुखा मित्रार्थो न च दुर्बलः ॥२७॥

याचक जिससे विमुख नहीं होते, मित्रों का स्वार्थ जिससे अपूर्ण नहीं रहता, वह मनुष्य धन्य है, उसका जन्म और जीवन धन्य है ॥२७॥

धिक् तस्य जीवितं पुंसो मित्राणामुपकारिणाम्।
प्रतिरूपमकुर्वन् यो जीवामीत्यवगच्छति ॥२७॥

मित्रों के उपकार का बदला चुकाये बिना जो अपने को जीवित समझता है, उस मनुष्य के जीवन को धिक्कार है ॥२८॥

उपकारं सुहृद्वर्गे योऽपकारं च शत्रुषु।
नृमेघो वर्षति प्राज्ञास्तस्येच्छन्ति सदोन्नतिम् ॥३०॥

जो मनुष्य मेघ के समान मित्रवर्ग में उपकार तथा शत्रुवर्ग में अपकार की वर्षा करता है, बुद्धिमान् लोग उसकी सदा उन्नति चाहते हैं ॥२९॥

देवत्वममरेशत्वं तत्पूज्यत्वं च मानवाः।
प्रयान्ति वाञ्छितं वाऽन्यद् दृढं ये व्यवसायिनः ॥३६॥

जो दृढ़ता के साथ उद्योग में लगे रहते हैं वे देवपद, इन्द्रपद तथा उनके पूज्य का पद अथवा उससे भी बड़ा कोई दूसरा पद प्राप्त करते हैं ॥३०॥

नाविज्ञातं न चागम्यं नाप्राप्यं दिवि चेह वा।
उद्यतानां मनुष्याणां यतचित्तेन्द्रियात्मनाम् ॥३७॥

जो मनुष्य चित्त, इन्द्रिय तथा आत्मा को अपने वश में रख कर उद्यमशील होते हैं उनको कोई वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती, कोई स्थान उनके लिये अगम्य नहीं रह जाता तथा इस लोक और स्वर्ग लोक की कोई भी वस्तु उन्हें अप्राप्य नहीं होती ॥३७॥

योजनानां सहस्राणि व्रजन् याति पिपीलकः।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ॥३८॥

चलते रहने पर चींटी भी सहस्रों योजन चली जाती है और न चलने पर गरुड़ भी एक पग भी नहीं जा पाता ॥३८॥

उद्युक्तानां मनुष्याणां गम्यागम्यं न विद्यते।
भूतलं च क च ध्रौवं स्थानं यत् प्राप्तवान् ध्रुवः ॥६९॥

उद्योगी मनुष्य के लिये कोई स्थान गम्य और कोई स्थान अगम्य नहीं होता, कहाँ भूतल और कहाँ ध्रुव का पद ? फिर भी भूतलवासी ध्रुव ने उद्योग द्वारा ध्रव का पद पा ही लिया ॥३९॥

इक्कीसवाँ अध्याय

राजकुमार, गालव के आश्रम में पहुँच कर धर्मानुष्ठान में होने वाले विघ्नों का निवारण करने लगा। एक दिन गालव ऋषि जब सन्ध्योपासन कर रहे थे,उसी समय एक दानव उन्हें क्लेश देने के लिये शूकर के रूप में उपस्थित हुआ। ऋषि के शिष्यों द्वारा यह बात ज्ञात होते ही राजकुमार ने धनुष्-बाण लेकर अश्व पर आरूढ़ हो उसका पीछा किया और एक बाण से उसे आहत कर दिया। बाण लगते ही वह वेग से भागा और राजकुमार ने भी उसके पीछे अपना अश्व दौड़ाया। आगे जाकर वह शूकर एक गर्त में पृथ्वी के भीतर घुस गया। राजकुमार ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। गर्त बड़ा अन्धकारमय था अतः शूकर दृष्टि से ओझल हो गया। राजकुमार उसकी खोज में आगे बढ़ता ही गया। आगे जाने पर पुनः प्रकाश मिला और वहाँ इन्द्र-भवन के समान भव्य एक स्वर्णप्रासाद दिखायी पड़ा। राजकुमार ने अश्व को एक स्थान में बांध दिया और स्वयं एक नारी के साथ, जिसने उसकी जिज्ञासा

अनसुनी कर दी, उस भवन में प्रवेश किया। भीतर जाकर उसने सुनहले पलंग पर बैठी एक सर्वाङ्गसुन्दरी कुमारी को देखा। कुमारी राजकुमार को देख कर खड़ी हो गयी और कुमार के असाधारण लावण्य से मुग्ध तथा कामार्त होकर वेसुध हो गयी। राजकुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए उसकी सहचरी से उसके मोह का कारण तथा उसका परिचय पूछा। सहचरी ने बताया कि यह गन्धर्वराज विश्वावसु की कन्या है। इसका नाम मदालसा है। पातालकेतु नाम का दानव इसे चुरा कर यहाँ ले आया है। वह बलात् इसे अपनी पत्नी बनाना चाहता है। आगामी त्रयोदशी को इससे विवाह करने का उसने निश्चय किया है। उसके इस क्रूर निश्चय को जान कर कल यह आत्महत्या करने जा रही थी पर गोमाता सुरभि ने इसे रोक दिया और कहा कि वह दानव तुमसे विवाह न कर सकेगा। तुम्हारा विवाह तो शीघ्र ही एक ऐसे मनुष्य के साथ होगा जो मर्त्य लोक से यहाँ आयेगा और उसके बाण से उस दानव की मृत्यु होगी।

मैं इसकी सखी हूँ। मेरा नाम कुण्डला है। मैं विन्ध्यवान् की पुत्री तथा पुष्करमाली की वधू हूँ। शुम्भ द्वारा अपने पति की मृत्यु हो जाने के बाद से मैं तीर्थाटन करती हूँ। मुझे ज्ञात हुआ है कि किसी मनुष्य ने शूकर का रूप धारण किये हुये पातालकेतु को अपने बाण से आहत कर दिया है। सुरभि के बचनानुसार उसी मनुष्य के साथ इसका विवाह होना चाहिये। किन्तु आपके रूप-लावण्य के कारण यह आप में अनुरक्त हो गयी है। इसी विषम स्थिति ने इसे मूर्च्छित कर दिया है। मैं भी अपनी सखी की इस दुःखावस्था से दुःखित हूँ। मैंने आपको सब बातें बता दीं। अब आप कृपा कर अपना परिचय दें। राजकुमार ने अपना परिचय प्रस्तुत किया और उससे यह स्पष्ट हो गया कि इसी के बाण से शूकरदेहधारी पातालकेतु मारा गया है। अतः सुरभि के कथनानुसार यही मदालसा का पति होगा। फलतः कुण्डला ने राजकुमार के समक्ष मदालसा के विवाह का प्रस्ताव रखा। राजकुमार ने पहले तो पिता की अनुमति प्राप्त किये बिना विवाह करना अस्वीकार कर दिया किन्तु बाद में कुण्डला के विशेष आग्रह करने पर विवाह कर लिया। विवाह के पश्चात् कुण्डला ने अवसरोचित निवेदन कर तपस्या करने के हेतु अपनी सखी और राजकुमार से विदा ली। राजकुमार ने भी अपनी नवपरिणीता वधू मदालसा को साथ ले घर के लिये प्रस्थान किया और वहाँ पहुँच पिता को प्रणाम कर मदालसा को प्राप्त करने की सारी कथा सुनायी। राजा शत्रुजित

ने इस समाचार से बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया तथा वर-वधू को आशीर्वाद प्रदान किया। इस अध्याय के निम्न श्लोक संग्राह्य हैं—

भर्तव्या रक्षितव्या च भार्या हि पतिना सदा।
धर्मार्थकामसंसिद्ध्यै भार्या भर्तृसहायिनी॥
यदा भार्या च भर्ता च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि रक्षणम्॥ ७१॥
कथं भार्यामृते धर्ममर्थं वा पुरुषः प्रभो?
प्राप्नोति काममथवा तस्यां त्रितयमाहितम्॥ ७२॥
तथैव भर्तारमृते भार्या धर्मादिसाधने।
न समर्था त्रिवर्गोऽयं दाम्पत्यं समुपाश्रितः॥ ७३॥
देवतापितृभृत्यानामतिथीनां च पूजनम्।
न पुम्भिः शक्यते कर्तुमृते भार्यां नृपात्मज!॥ ७४॥
प्राप्नोति चार्थो मनुजैरानीतोऽपि निजं गृहम्।
क्षयमेति विना भार्यां कुभार्यासंश्रयेऽपि च॥ ७५॥
कामस्तु तस्य नैवास्ति प्रत्यक्षेणोपलक्ष्यते।
दम्पत्योः सह धर्मेण त्रयीधर्ममवाप्नुयात्॥ ७६॥
पितॄन् पुत्रैस्तथैवान्नसाधनैरतिथीन् नृपः।
पूजाभिरमरांस्तद्वत्साध्वीं भार्यां नरोऽवति॥ ७७॥
स्त्रियाश्चापि विना भर्त्रा धर्मकामार्थसन्ततिः।
नैव तस्मात् त्रिवर्गोऽयं दाम्पत्यमधिगच्छति॥ ७८॥

पति को सदैव अपनी भार्या का भरण तथा रक्षण करना चाहिये, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि में भार्या भर्ता की सहायिका होती है॥ ७०॥

जब भार्या और भर्ता स्नेहपूर्वक एक दूसरे का अनुवर्तन करते हैं तभी धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों की प्राप्ति होती है॥ ७१॥

धर्म, अर्थ और काम ये तीनों जब भार्या पर ही निर्भर हैं, तब उसके बिना पुरुष को इन तीनों की प्राप्ति कैसे हो सकती है?॥ ७२॥

जिस प्रकार भर्ता के विना भार्या धर्म आदि का साधन करने में असमर्थ है, उसी प्रकार भार्या के विना भर्ता भी उनका साधन करने में असमर्थ है। निश्चय ही यह त्रिवर्ग दाम्पत्य पर ही आश्रित है॥ ७३॥

राजकुमार! यह निश्चय मानो कि पुरुष भार्या के अभाव में देवता, पितर, भृत्यवर्ग, तथा अतिथियों का पूजन—तृप्तिसम्पादन कथमपि नहीं कर सकता॥ ७४॥

पुरुषों द्वारा अर्जित करके घर में लाया हुआ भी धन भार्या के अभाव में अथवा कुभार्या के हाथ में पड़कर नष्ट हो जाता है ॥ ७५ ॥

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि भार्याहीन पुरुष को काम की प्राप्ति तो नहीं ही होती, किन्तु वैदिक धर्म की प्राप्ति भी दम्पती के सहप्रयत्न से ही होती है ॥७६॥

इसी लिये मनुष्य जिस प्रकार पुत्रों से पितरों को, अन्न से अतिथियों को तथा पूजा से देवताओं को रक्षित रखता है उसी प्रकार वह इन सब उपायों से अपनी उत्तम भार्या को भी रक्षित रखता है ॥ ७७ ॥

जिस प्रकार स्त्री के बिना पुरुष धर्म आदि को नहीं प्राप्त कर पाता, उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के बिना धर्म, अर्थ और काम को नहीं प्राप्त कर पाती। इस लिये यह त्रिवर्ग निस्संशय दाम्पत्य पर ही निर्भर है ॥ ७८ ॥

यदुपात्तं यशः पित्रा धनं वीर्यमथापि वा।
तन्न हापयते यस्तु स नरो मध्यमः स्मृतः ॥ ९५ ॥
तद्वीर्यादधिकं यस्तु पुनरन्यन् स्वशक्तितः।
निष्पादयति तं प्राज्ञाः प्रवदन्ति नरोत्तमम् ॥ ९६ ॥
यः पित्रा समुपात्तानि धर्मवीर्ययशांसि वै।
न्यूनतां नयति प्राज्ञास्तमाहुः पुरुषाधमम् ॥ ९७ ॥
न स पुत्रकृतां प्रीतिं मन्ये प्राप्नोति मानवः।
पुत्रेण नातिशयितो यः प्रज्ञादानविक्रमैः ॥ ९८ ॥
धिग जन्म तस्य यः पित्रा लोके विज्ञायते नरः।
यः पुत्रात् ख्यातिमभ्येति तस्य जन्म सुजन्मनः ॥९९॥
आत्मना ज्ञायते धन्यो मध्यः पितृपितामहैः।
मातृपक्षेण मात्रा च ख्यातिमेति नराधमः ॥१००॥

पिता द्वारा अर्जित यश, धन और वीर्य को जो घटने नहीं देता वह मध्यम कोटि का मनुष्य कहलाता है ॥९५॥

जो अपनी शक्ति से पिता के वीर्य आदि से अधिक वीर्य आदि का सम्पादन करता है, बुद्धिमान् मनुष्य उसे उत्तम कोटि का मनुष्य कहते हैं ॥९६॥

जो पिता के धन, वीर्य और यश को अपनी अकर्मण्यता अथवा विपरीत-कर्मता से घटा देता है, बुद्धिमान् लोग उसे अधम कोटि का मनुष्य कहते हैं।

प्रज्ञा, दान, और पराक्रम में अपने पुत्र द्वारा जिस पिता का अतिक्रमण नहीं होता, मैं समझता हूँ कि उस पिता को वह प्रीति नहीं होती, जिसकी आशा वह अपने पुत्र से रखता है ॥९८॥

जो मनुष्य अपने पिता से ख्यात होता है उसका जन्म निन्दनीय और जो अपने पुत्र से ख्यात होता है उसका जन्म प्रशंसनीय होता है ॥६६॥

अपनी योग्यता से ख्यात होने वाला मनुष्य उत्तम, पिता, पितामह से ख्यात होने वाला मनुष्य मध्यम तथा माता अथवा मातृपक्ष से ख्यात होनेवाला मनुष्य अधम कहा जाता है ॥१००॥

बाईसवाँ अध्याय

कुछ दिन बाद राजा शत्रुजित् ने राजकुमार को आज्ञा दी कि वह प्रति-दिन पृथ्वीपर विचरण करे तथा यह चेष्टा करे कि मुनिजनों को दानवों से किसी प्रकार की कोई पीड़ा न पहुँचे। राजकुमार ने पिता की इस आज्ञा को अपना नित्य का कार्यक्रम बना लिया। एक दिन घूमता फिरता वह यमुना के तट पर स्थित एक आश्रम में पहुँचा। वहाँ पातालकेतु का अनुज तालकेतु मुनि के वेष में रहता था। उसने भाई के वैर का स्मरण कर राजकुमार से कहा—"राज-कुमार! मुझे एक यज्ञ करना है पर उसकी दक्षिणा मेरे पास नहीं है, अतः आप अपना कण्ठभूषण मुझे दे दें और जल के भीतर जा कर वरुणदेव की आराधना कर जब तक मैं न लौटूँ तब तक आप यहीं रह मेरे आश्रम की रक्षा करें"। राजकुमार ने उसे सच्चा मुनि समझकर उसकी बात मान ली। तब ताल-केतु ने जल में प्रवेश किया और उधर ही से राजधानी में जाकर राजा शत्रु-जित् से कहा—"राजन्! मेरे आश्रम के निकट तपस्वियों की रक्षा के निमित्त राजकुमार दानवों से युद्ध कर रहे थे। उसी समय किसी दानव ने माया से राजकुमार को मार डाला और उनका घोड़ा लेकर चला गया। तपस्वियों ने अपनी रक्षा के हेतु मारे गये राजकुमार का दाह-संस्कार कर दिया। राजकुमार ने मरते समय अपना यह कण्ठभूषण मुझे दिया था। अब आप इसे अपने आश्वासन के लिये अपने पास रखें"। राजकुमार की मृत्यु का समाचार सुनते ही सारी राजधानी शोकाकुल हो गयी। राजकुमार की पत्नी मदालसा ने तो अपने प्राण ही त्याग दिये। तब राजा ने सबको समयोचित आश्वासन दे पुत्रवधू का अग्निसंस्कार कराया। तालकेतु ने राजधानी से लौट कर जल में पुनः प्रवेश किया और जल से निकलकर राजकुमार से कहा—"आप की सहायता से मेरा अनुष्ठान पूर्ण हो गया, अब आप जा सकते हैं।" इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

न रोदितव्यं पश्यामि भवतामात्मनस्तथा।
सर्वेषामेव सञ्चिन्त्य सम्बन्धानामनित्यताम् ॥२८॥

किन्नु शोचामि तनयं किन्नु शोचाम्यहं स्नुषाम् ? ।
विमृश्य कृतकृत्यत्वान्मन्येऽशोच्यावुभावपि ॥२९॥

मच्छुश्रूषुर्यद्वचनाद् द्विजरक्षणतत्परः ।
प्राप्तो मे यः सुतो मृत्युं कथं शोच्यः स धीमताम् ? ॥३०॥

अवश्यं याति यद्देहं तद् द्विजानां कृते यदि ।
मम पुत्रेण सन्त्यक्तं नन्वभ्युदयकारि तत् ॥३१॥

इयं च सत्कुलोत्पन्ना भर्तर्येवमनुव्रता ।
कथं नु शोच्या नारीणां भर्तुरन्यन्न दैवतम् ॥३२॥

अस्माकं बान्धवानां च तथाऽन्येषां दयावताम् ।
शोच्या ह्येषा भवेदेवं यदि भर्त्रा वियोगिनी ॥३३॥

या तु भर्तुर्वधं श्रुत्वा तत्क्षणादेव भामिनी ।
भर्तारमनुयातेयं न शोच्याऽतो विपश्चिताम् ॥३४॥

ताः शोच्या या वियोगिन्यो न शोच्या या मृताः सह ।
भर्तुर्वियोगस्त्वनया नानुभूतः कृतज्ञया ॥३५॥

राजा राजकुमार के मरण-शोक से पीड़ित नगर के नर-नारियों का प्रबोधन करते हुये कहते हैं—प्रजाजनों और देवियों ! राजकुमार अथवा उसकी पत्नी के विषय में आप लोगों के अथवा मेरे अपने रोने का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आता। सब प्रकार के सम्बन्धों की अनित्यता पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि क्या पुत्र के लिये रोऊँ ? और क्या पुत्रवधू के लिये रोऊँ ? अर्थात् दोनों में किसी के लिये रोने का कोई कारण नहीं है। विचार करने से ऐसा जान पड़ता है कि दोनों ही कृतकृत्य होने के कारण शोक करने योग्य नहीं हैं ॥२८,॥

जो सदा मेरी सेवा में लगा रहता था और मेरी ही आज्ञा से ब्राह्मणों की रक्षा में तत्पर होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ, वह मेरा पुत्र बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये शोक का विषय कैसे हो सकता है ? ॥ ३० ॥

जो अवश्य जाने वाला है उस देह को मेरे पुत्र ने यदि ब्राह्मणों की रक्षा में व्यय कर दिया तो यह तो अभ्युदय का कारण है ॥ ३१ ॥

जो उत्तम कुल में उत्पन्न हुई और जिसने प्रेमवश परलोक में भी अपने पति का अनुगमन किया उस मेरी पुत्रवधू के लिये भी शोक करना कैसे उचित हो सकता है ? जब कि स्त्री के लिये पति से अतिरिक्त दूसरा कोई देवता नहीं है ॥ ३२ ॥

यदि वह पति के न रहने पर भी जीवित रहती तो हमारे लिये, बन्धु-बान्धवों के लिये तथा अन्य दयावान् पुरुषों के लिये शोक का विषय अवश्य होती ।। ३३ ।।

वह तो अपने पति का वध सुनकर तत्काल ही उसके पीछे चली गयी, अतः वह विद्वान् पुरुषों के लिये शोक के योग्य नहीं है ।। ३४ ।।

शोक तो उन स्त्रियों के लिये करना उचित होता है जो पति से वियुक्त होकर भी जीवित रहती हैं, किन्तु जो साथ ही प्राण का परित्याग कर देती हैं वे कदापि शोक के योग्य नहीं होतीं। अपना कर्तव्य समझनेवाली मेरी पुत्रवधू ने तो भर्ता के वियोग का अनुभव ही नहीं किया ।। ३५ ।।

न मे मात्रा न मे स्वस्रा प्राप्ता प्रीतिर्नृपेदृशी ।
श्रुत्वा मुनिपरित्राणे हतं पुत्रं यथा मया ।। ४१ ।।
शोचतां बान्धवानां ये निश्वसन्तोऽतिदुःखिताः ।
म्रियन्ते व्याधिना क्लिष्टास्तेषां माता वृथाप्रजा ।। ४२ ।।
संग्रामे युध्यमाना येऽभीता गोद्विजरक्षणे ।
क्षुण्णा शस्त्रैर्विपद्यन्ते त एव भुवि मानवाः ।। ४३ ।।
अर्थिनां मित्रवर्गस्य विद्विषां च पराङ्मुखम् ।।
यो न याति पिता तेन पुत्री माता च वीरसूः ।। ४४ ।।
गर्भक्लेशः स्त्रियो मन्ये साफल्यं भजते तदा ।
यदाऽरिविजयी वा स्यात् संग्रामे वा हतः सुतः ।। ४५ ।।

राजकुमार की माता कहती हैं—राजन्! मुनियों की रक्षा के निमित्त पुत्र को मरा सुनकर जैसी प्रसन्नता मुझे प्राप्त हुई है वैसी प्रसन्नता न मेरी माता को प्राप्त हो सकी और न मेरी बहन को ही प्राप्त हो सकी, अर्थात् उनका यह सौभाग्य नहीं था कि वे सुन सकतीं कि उनका पुत्र मुनियों की रक्षा करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ ।। ४१ ।।

जो शोकमग्न बन्धु-बान्धवों के समक्ष रोग से पीड़ित एवं दुखी हो लम्बी सांसें खींचते हुये प्राणत्याग करते हैं उनकी माता का सन्तानवती होना व्यर्थ है ।। ४२ ।।

जो मनुष्य गौ और ब्राह्मणों की रक्षा में तत्पर हो रणभूमि में निर्भय भाव से युद्ध करते हुये शस्त्रों से आहत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इस पृथ्वी पर वे ही धन्य हैं ।। ४३ ।।

जो याचकों, मित्रों तथा शत्रुओं से कभी मुख नहीं मोड़ता उसी से पिता वस्तुतः पुत्रवान् होता है और माता वीरजननी कहलाती है ।। ४४ ।।

पुत्र को जन्म देने में जो माता को कष्ट होता है वह उस समय सफल हो जाता है जब उसका पुत्र युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है अथवा लड़ता हुआ शस्त्रों से आहत होकर मर जाता है ।। ४५ ।।

तेईसवाँ अध्याय

राजकुमार मायावी मुनि तालकेतु से विदा ले जब राजधानी में पहुँचे तब पौरजन उन्हें देखकर विस्मित एवं हर्षोत्फुल्ल हो उठे। राजभवन में प्रवेश कर राजकुमार ने माता-पिता को प्रणाम किया और उनके आशीर्वाद प्राप्त किये। मदालसा के बारे में जिज्ञासा करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जब उनके पिता को दी गई उनकी झूटी मृत्यु की सूचना अन्तःपुर में पहुँची तब मदालसा बहुत दुखी हुई और पति के बिना एक क्षण भी जीवित रहने को व्यर्थ समझ कर सद्यः मर गई। इस दुःसमाचार से राजकुमार को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा करली कि वे आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे और किसी अन्य स्त्री से सम्पर्क न करेंगे।

अपने मित्र ऋतध्वज के जीवन की यह दुःखमय घटना सुनाकर नागराज के पुत्रों ने अपने पिता से कहा—"पिता जी! हमारे मित्र के जीवन में यही एक अभाव है जिसका निराकरण हमारी समझ से असम्भव है"।

नागराज(अश्वतर)इस घटना को सुनकर दुखी हुये और अपने पुत्रों के मित्र का यह दुःख दूर करने के उद्देश्य से जगज्जननी सरस्वती की आराधना में तत्पर हो गये। सरस्वती ने प्रसन्न होकर उनकी प्रार्थना के अनुसार उन्हें और उनके भ्राता(कम्बल)को समस्त स्वरों की सिद्धि का वरदान दिया। उसके बाद उन दोनों बन्धुवों ने स्वरसिद्ध संगीत से चिरकाल तक भगवान् शंकर की स्तुति की। शंकर जी प्रसन्न हुये और उनकी कृपा से मदालसा अपने पूर्व रूप में नागराज की कन्या होकर प्रकट हुई। नागराज ने अन्तःपुर में उसे गुप्त रूप से रख दिया। कुछ दिन बाद नागराज ने अपने पुत्रों से कहा कि मैं तुम्हारे मित्र को देखना चाहता हूँ। एक दिन उन्हें यहाँ ले आवो। पिता की आज्ञा मान उनके पुत्र एक दिन राजकुमार को अपने घर ले आये और पिता जी से उनकी भेंट कराये। पिता ने राजकुमार का बड़ा स्वागत किया और बड़े ठाट-बाट तथा प्रेम से उन्हें रखा।

इस अध्याय के मदालसा की मृत्यु के शोक से पीड़ित ऋतध्वज के सम्बन्ध के अग्रिम श्लोक संग्राह्य हैं।

नृशंसोऽहमनार्योऽहं विना तां मृगलोचनाम्।
मत्कृते निधनं प्राप्तां यज्जीवाम्यतिनिर्घृणः ॥ १० ॥
मृतेति सा तन्निमित्तं त्यजामि, यदि जीवितम्।
किं मयोपकृतं तस्याः श्लाध्यमेतत्तु योषिताम् ॥१२॥
यदि रोदिमि वा दीनो हा प्रियेति वदन्मुहुः।
तथाऽप्यश्लाघ्यमेतन्नो वयं हि पुरुषाः किल ॥१३॥
अथ शोकजडो दीनः स्त्रजा हीनो मलान्वितः।
विपक्षस्य भविष्यामि ततः परिभवास्पदम् ॥१४॥
किन्त्वत्र मन्ये कर्तव्यस्त्यागो भोगस्य योषितः।
स चापि नोपकाराय तन्वङ्ग्याः किंतु सर्वथा ॥१६॥
मयाऽऽनृशंस्यं कर्तव्यं नोपकार्यपकारि च।
या मदर्थेऽत्यजत्प्राणाँस्तदर्थेऽल्पमिदं मम ॥१७॥
यदि सा मम तन्वङ्गी न स्याद् भार्या मदालसा।
अस्मिन् जन्मनि नान्या मे भवित्री सहचारिणी ॥१८॥
तामृते मृगशावाक्षीं गन्धर्वतनयामहम्।
न भोक्ष्ये योषितं काञ्चिदिति सत्यं मयोदितम् ॥२०॥

राजकुमार कहते हैं—

जो मृगनयनी मुझे मरा सुन कर सद्यः मर गई उसके बिना यदि मैं जीवित रहता हूँ तो मैं नृशंस, अनार्य और अत्यन्त क्रूर कहा जाऊँगा ॥१०॥ वह मर गई, इस कारण यदि मैं भी अपने जीवन का अन्त कर दूँ तो इससे उसका क्या भला होगा? । मृत का अनुगमन करना तो स्त्रियों ही के लिये श्लाध्य होता है ॥१२ यदि "हा प्रिये, हा प्रिये" कह कर दीन बनकर रोऊँ तो यह भी मेरे लिये श्लाघ्य नहीं है, कारण मैं पुरुष हूँ और यह पुरुष के लिये योग्य नहीं है ॥१३॥ यदि शोक से निश्चेष्ट हो दीन, वेशभूषाविहीन तथा मलिन होकर रहूँ तो शत्रुओं से अपमान होगा ॥१४॥ इस स्थिति में मुझे यही उचित जान पड़ता है कि मैं आजीवन स्त्रीसम्भोग का परित्याग कर दूँ । यद्यपि इससे भी उसका कोई उपकार न होगा, किन्तु उपकार अथवा अपकार हो वा न हो, पर मुझे इतनी मनुष्यता का पालन तो करना ही चाहिये । जिसने मेरे लिये अपने प्राणों तक का परित्याग कर दिया उसके लिये मेरा यह त्याग अत्यन्त अल्प है ॥१६-१७॥

इसलिये यह मेरा निश्चय है कि यदि मेरी भार्या कृशाङ्गी मदालसा मुझे प्राप्त न होगी तो इस जन्म में दूसरी कोई स्त्री मेरी सहचारिणी न हो सकेगी ॥१९॥

उस गन्धर्वतनया मृगनयनी के अतिरिक्त मैं किसी अन्य स्त्री का भोग न करूँगा, यह मैंने सर्वथा सत्य कह दिया ॥२०॥

जीवितं गुणिनः श्लाघ्यं जीवन्नेव मृतोऽगुणः ॥१०७॥

गुणवान् निर्वृतिं पित्रोः शत्रूणां हृदयज्वरम् ॥
करोत्यात्महितं कुर्वन् विश्वासं च महाजने ॥१०८॥

देवताः पितरो विप्रा मित्रार्थिविफलादयः ।
बान्धवाश्च तथेच्छन्ति जीवितं गुणिनश्चिरम् ॥०९॥

परिवादनिवृत्तानां दुर्गतेषु दयावताम् ।
गुणिनां सफलं जन्म संश्रितानां विपद्गतैः ॥११०॥

नागराज अश्वतर राजकुमार से कहते हैं—

गुणवान् का जीवन श्लाध्य होता है, निर्गुण तो जीता हुआ भी मृतकल्प होता है। ॥१०७॥

गुणवान् पुत्र माता-पिता के हृदय में आनन्द और शत्रुओं के हृदय में चिन्ताज्वर पैदा करता है। वह अपने हित का सम्पादन करता हुआ श्रेष्ठजनों के विश्वास का भाजन बनता है ॥१०८॥ देवता, पितर, ब्राह्मण, मित्र, याचक, असहाय तथा बन्धु-बान्धव गुणवान् मनुष्य के चिरजीवन की निरन्तर कामना करते हैं ॥१०९॥ जिनकी कभी निन्दा नहीं होती, जो दीनों पर दया करते और विपन्नों को आश्रय देते हैं उन गुणवान् मनुष्यों का ही जन्म सफल है ॥११०॥

चौवीसवाँ अध्याय

एक दिन नागराज ने राजकुमार से कहा—"राजकुमार! आप मेरे पुत्रों के सुहृद् हैं, आप से मेरा बड़ा स्नेह है, आप को जो भी वस्तु अभिमत हो, चाहे वह कितनी भी बहुमूल्य क्यों न हो, आप निस्संकोच मुझसे मांग सकते हैं। राजकुमार ने कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से मेरे घर सब वस्तुएँ विद्यमान हैं, मेरे पिता के प्रताप से मुझे संसार की सारी वस्तु सुलभ है। मुझे आप से कुछ नहीं चाहिये। हाँ, यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं तो मुझे यह वर दें कि मेरे हृदय से धर्म की भावना कभी दूर न हो। नागराज ने कहा—"यह तो ऐसा

ही होगा, पर मेरा अनुरोध है कि आप ऐसी कोई वस्तु मुझसे अवश्य प्राप्त कर लें जो मनुष्य-लोक में सुलभ न हो। यह सुन राजकुमारने अपने मित्रों की ओर भावभरी दृष्टि से देखा। मित्रों ने उनका अभिप्राय समझ लिया और नागराज से कहा। "पिताजी! इनकी पत्नी मदालसा इनके निधन का मिथ्या समाचार सुनकर मर गई है और इन्होंने प्रतिज्ञा करली है कि मदालसा को छोड़ किसी अन्य स्त्री को ये अपनी भार्या न बनायेंगे। ये अपनी दिवंगता पत्नी को देखना चाहते हैं, यदि आप इसका उपाय कर सकें तो बहुत अच्छा हो"। नागराज ने कहा—"यथार्थ रूप में तो यह असम्भव है, पर उसका मायामय रूप देखा जा सकता है"। राजकुमार ने कहा—"यदि आप मेरी मदालसा को माया के रूप में भी दिखा दें तो मैं बड़ा अनुगृहीत हूँगा"। यह सुन नागराज ने घर में गुप्त रूप से रखी मदालसा को राजकुमार के समक्ष उपस्थित किया और उसके पुनर्जीवन की सारी कथा कह सुनायी। राजकुमार ने मदालसा को पा परमानन्द प्राप्त किया और नागराज को प्रणाम तथा कृतज्ञता निवेदन कर उनकी अनुमति से प्रिया के साथ राजधानी को प्रस्थान किया।

इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

> यैर्न चिन्त्यं धनं किञ्चिन्मम गेहेऽस्ति नास्ति वा।
> पितृबाहुतरुच्छायां संश्रिताःसुखिनो हि ते ॥१०॥
> ये तु बाल्यात्प्रभृत्येव विना पित्रा कुटुम्बिनः।
> ते सुखास्वादविभ्रंशान्मन्ये धात्रैव वञ्चिताः ॥२२॥

राजकुमार कहते हैं—पिता के बाहुवों की छत्र-छाया में रहकर जिन्हें यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि उनके घर में धन है अथवा नहीं, वे ही सुखी हैं ॥१०॥ किन्तु जिनको बचपन से ही पितृहीन हो कर कुटुम्बका भार-वहन करना पड़ता है, उनका सुख भोग छिन जाने के कारण, मैं तो समझता हूँ कि विधाता ने ही उन्हें सौभाग्य से वञ्चित कर रखा है ॥११॥

> सुवर्णमणिरत्नादि वाहनं गृहमासनम्।
> स्त्रियोऽन्नपानं पुत्राश्च चारुमाल्यानुलेपनम् ॥२०॥
> एते च विविधाः कामा गीतवाद्यादिकं च यत्।
> सर्वमेतन्मम मतं फलं पुण्यवनस्पतेः ॥२१॥
> तस्मान्नरेण तन्मूलसेके यत्नः कृतात्मना।
> कर्तव्यः पुण्यसक्तानां न किञ्चिद् भुवि दुर्लभम् ॥२२॥

सुवर्ण, मणि, रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थ, वाहन, भवन, आसन, स्त्रियाँ, खान-पान की वस्तुयें, पुत्र, सुन्दर माल्य और लेपन द्रव्य—ये सब तथा गीत-

वाद्य आदि अन्य काम्य वस्तुयें, मेरे मतानुसार ये सब पुण्यरूपी वनस्पति के फल हैं। इसलिये मनुष्य को संयतचित्त होकर उस पुण्य-वृक्ष के ही मूल को सींचने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पुण्यवानों को संसार में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती ॥२०, २१, १२॥

पचीसवाँ अध्याय

राजकुमार जब मदालसा के साथ अपने नगर में पहुँचे और दिवंगता मदालसा की पुनः प्राप्ति का सारा समाचार सुनाये तो पूरे नगर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। कुछ दिन बाद राजा शत्रुजित् का स्वर्गवास हो गया। प्रजा ने राजकुमार ऋतध्वज को राज्यासन पर अभिषिक्त किया। ऋतध्वज औरसपुत्र के समान प्रजा का पालन करने लगे। थोड़े दिन बाद मदालसा ने एक पुत्र पैदा किया। राजा ने उसका नाम रखा 'विक्रान्त'। मदालसा बड़ी विदुषी थी, अतः जब कभी बालक पलंग पर पड़े-पड़े रोने लगता था तब उसे पुचकारने एवं बहलाने के बहाने वह उसे अध्यात्म का उपदेश देती थी। उसके उपदेश निम्नाङ्कित हैं :—

शुद्धोऽसि रे तात ! न तेऽस्ति नाम कृतं हि ते कल्पनयाऽधुनैव ।
पञ्चात्मकं देहमिदं तवैतन्नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ? ॥११॥
न वा भवान् रोदिति वै स्वजन्मा शब्दोऽयमासाद्य महीशसूनुम् ।
विकल्प्यमाना विविधा गुणास्तेऽगुणाश्च भौताः सकलेन्द्रियेषु ॥१२॥
भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः ।
अन्नाम्बुदानादिभिरेव कस्य न तेऽस्ति वृद्धिर्नच तेऽस्ति हानिः ॥१३॥
त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेऽस्मिन् तस्मिंश्च देहे मूढतां मा व्रजेथाः ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेतन्मदादिमूढैः कञ्चुकस्ते पिनद्धः ॥१४॥
तातेति किञ्चित्तनयेति किञ्चिदम्बेति किञ्चिद्दयितेति किञ्चित् ।
ममेति किञ्चिन्न ममेति किञ्चित् त्वं भूतसंघं बहु मानयेथाः ॥१५॥
दुःखानि दुःखोपशमाय भोगान् सुखाय जानाति विमूढचेताः ।
तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि जानात्यविद्वान् सुविमूढचेताः ॥१६॥
हासोऽस्थिसन्दर्शनमक्षियुग्ममत्युज्ज्वलं तर्जनमङ्गनायाः ।
कुचादि पीनं पिशितं घनं तत् स्थानं रतेः किं नरकं न योषित् ? ॥१७॥
यानं क्षितौ यानगतं च देहं देहेऽपि चान्यः पुरुषो विमूढः ।
ममत्वबुद्धिर्न तथा यथा स्वे देहेऽतिमात्रं बत मूढतैषा ॥१८॥

हे तात ! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है, यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पाँच भूतों का बना है, न यह तेरा है और न तू इसका है। फिर तू क्यों रोता है ? ॥११॥ अथवा तू रोता नहीं, यह शब्द तो तेरे निकट पहुँचकर अपने आप ही प्रकट होता है। तेरी सम्पूर्ण इन्द्रियों में जो भाँति-भाँति के गुण-अवगुण कल्पित होते हैं वे भी भूतों के ही विकार हैं ॥१२॥ जिस प्रकार इस जगत् में अत्यन्त दुर्बल भूत अन्य भूतों के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अन्न और जल आदि भौतिक पदार्थों के देने से पुरुष के पाञ्च भौतिक शरीर की ही पुष्टि होती है। इससे तुझ शुद्ध आत्मा की न वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है ॥१३॥ तू अपने उस चोले तथा इस देह रूपी चोले के जीर्ण-शीर्ण होने पर मोह न करना। शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार यह देह प्राप्त हुआ है। तुझे तो मद आदि मानस मलों ने इससे बाँध रखा है ॥१४॥ किसी को पिता, किसी को पुत्र, किसी को माता तथा किसी को प्रिया के रूप में व्यवहृत किया जाता है। इसी प्रकार किसी में 'यह मेरा है' ऐसा कहकर अपनेपन का तथा किसी में 'यह मेरा नहीं है' ऐसा कहकर परायेपन का व्यवहार किया जाता है। इन सब व्यवहारों के समस्त आलम्बनों को तू भूतों का समुदायमात्र समझ ॥१५॥ यद्यपि संसार के सारे भोग दुःख रूप हैं तथापि मूढ़चित्त मानव उन्हें दुःख का नाशक तथा सुख का जनक समझता है; किन्तु जो विद्वान् हैं जिनका चित्त मोह से आच्छन्न नहीं है' वे उन भोग-सुखों को भी दुःख ही मानते हैं ॥१६॥ हँसी क्या है ? दाँत की हड्डियों का केवल प्रदर्शन ही तो है। नेत्र युगल, जो अत्यन्त सुन्दर समझे जाते हैं, क्या हैं ? केवल मज्जा की कलुषता ही तो है। इसी प्रकार स्थूल कुच, जघन तथा नितम्ब क्या हैं ? घने मांस की गाँठ ही तो हैं। इसी लिये, युवती स्त्री, जो पुरुष की रति का आलम्बन समझी जाती है, क्या वह नरक की जीती-जागती मूर्ति नहीं है ? ॥१७॥ पृथ्वी पर वाहन चलता है, वाहन पर यह शरीर रहता है और इस शरीर में भी एक दूसरा पुरुष बैठा रहता है, इसलिये पृथ्वी, वाहन और शरीर तीनों ही पुरुष के समान आलम्बन हैं, फिर भी उसे शरीर में जितनी अधिक ममता होती है उतनी पृथ्वी और वाहन में नहीं होती, यही उसकी मूर्खता है ॥१८॥

छब्बीसवाँ अध्याय

अपने स्तन्य की धार के साथ अध्यात्म का जो संस्कार मदालसा ने बालक में डाला उसका फल यह हुआ कि वह संसार से निर्मम हो गया तथा राज्यकार्य

के योग्य न रह गया। यही दशा दूसरे और तीसरे पुत्र (सुबाहु) और (शत्रुमर्दन) की भी हुई। जब चौथे पुत्र के नामकरण का अवसर आया तब राजा ने, मदालसा को नामकरण का निर्देश किया। मदालसा ने उसका नाम (अलर्क) रखा। इस नाम की निरर्थकता के सम्बन्ध में राजा के आपत्ति करने पर मदालसा ने पहले तीन पुत्रों के राजा द्वारा रखे गये 'विक्रान्त,' 'सुबाहु' और 'शत्रुमर्दन' नामों की भी निरर्थकता बतायी। उसने कहा कि 'विक्रान्त' का अर्थ है विक्रमवाला। विक्रम का अर्थ है विशिष्ट प्रकार की गति, गतिका कार्य है गतिमान् वस्तु को एक स्थान से विभक्त कर दूसरे स्थान से संयुक्त करना, पर यह आत्मा के सर्वत्र व्याप्त होने से उसमें सम्भव नहीं है। 'सुबाहु' का भी अर्थ है सुन्दर बाहु वाला, किन्तु आत्मा के अमूर्त होने के कारण उसमें बाहु का होना असम्भव है। इसी प्रकार 'शत्रुमर्दन' का अर्थ है शत्रुओं का नाश करने वाला। यह अर्थ भी आत्मा के लिये व्यर्थ है, क्योंकि सब शरीरों में एक ही आत्मा का अधिष्ठान है। जगत् में दो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। अतः कोई किसी का शत्रु वा मित्र हो ही नहीं सकता। इस कारण आत्मा का 'शत्रुमर्दन' नाम असंगत है। तो फिर जैसे अर्थ की संगति न होने के कारण आप के रखे नाम केवल व्यवहारमात्र के साधक हैं वैसे ही मेरा रखा नाम भी व्यवहारमात्र का साधक है। ऐसी स्थिति में मेरे रखे नाम को निरर्थक कह कर आप मेरा उपालम्भ कैसे कर सकते हैं ? राजा ने मदालसा के तर्क की महत्ता मानली और कहा कि अब इस पुत्र को भी अपनी वही पुरानी विद्या मत पढ़ाना। इसमें ऐसा संस्कार डालने का प्रयत्न करना कि यह प्रवृत्ति-मार्ग का अवलम्बन कर देवता, ऋषि, पितर और प्रजाजनों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के अभ्युदय का भाजन हो सके। राजा के निर्देशानुसार रानी ने अपने चौथे पुत्र अलर्क को जो उपदेश दिया वह इस प्रकार है—

धन्योऽसि रे ! यो वसुधामशत्रुरेकश्चिरं पालयितासि पुत्र ? ।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो धर्मात्फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम् ॥३५॥

धराऽमरान् पर्वसु तर्पयेथाः समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः ।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथाः मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः ॥३६॥

सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथास्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथाः ।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः ॥३७॥

अर्थागमाय क्षितिपाञ्जयेथा यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः ।
परापवादश्रवणाद् बिभीथा विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथाः ॥३८॥
यज्ञैरनेकैर्विबुधानजस्रमर्थैर्द्विजान् प्रीणय संश्रिताँश्च ।
स्त्रियश्च कामैरतुलैश्चिराय युद्धैश्चारींस्तोषयितासि वीर ! ॥३९॥
बालो मनो नन्दय बान्धवानां गुरोस्तथाऽऽज्ञाकरणैः कुमारः ।
स्त्रीणां युवा सत्कुलभूषणानां-वृद्धो वने वत्स ? वनेचराणाम् ॥४०॥
राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः साधून् रक्षँस्तात ! यज्ञैर्यजेथाः ।
दुष्टान्निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये गोविप्रार्थे वत्स ! मृत्युं व्रजेथाः ॥४१॥

पुत्र ! तू धन्य है जो शत्रुरहित होकर अकेला ही चिरकाल तक इस पृथ्वी का पालन करेगा । पुत्र ! तू पृथ्वी के पालन से सुख का उपभोग और तन्मूलक धर्म के फलस्वरूप अमरत्व को प्राप्त करना ॥ ३५ ॥ पर्वों के दिन भोजन और दक्षिणा से सत्कार कर ब्राह्मणों को तृप्त करना । बन्धु-बान्धवों की इच्छा पूर्ण करना । अपने हृदय में दूसरों के हित का ध्यान रखना, परायी स्त्रियों की ओर कभी मन को न जाने देना ॥ ३६ ॥ अपने मन में सदा भगवान् मुरारि का चिन्तन करना । उनके ध्यान से काम-क्रोध आदि छहों शत्रुओं को जीतना । ज्ञान के द्वारा माया का निवारण करना, जगत् की अनित्यताका विचार करते रहना ॥ ३७ ॥ धन की आय के लिये राजाओं पर विजय प्राप्त करना, यशके लिये मुक्तहस्त हो धनका सद्व्यय करना । दूसरों की निन्दा सुनने से डरते रहना, विपत्ति के सागर में पड़े हुये लोगों का उद्धार करना ॥ ३८ ॥ वीर ! तू यज्ञों से देवताओं को, धन से ब्राह्मणों तथा आश्रितों को सन्तुष्ट करना । कामना की पूर्ति कर स्त्रियों को प्रसन्न रखना । युद्धों में शत्रुओं का मानमर्दन करना ॥ ३९ ॥ बाल्यावस्था में बान्धवजनों को आनन्द देना, कुमारावस्था में आज्ञा पालन से गुरुजनों को सन्तुष्ट रखना । युवावस्था में विवाह द्वारा श्रेष्ठकुल की सुन्दरियों को तृप्त करना, वृद्धावस्था में अरण्यवासी हो कर वत्स ! वनवासियों को सुख देना ॥ ४० ॥ पुत्र ! राज्य करते हुये अपने सुहृदों को प्रसन्न रखना, साधु पुरुषों की रक्षा करते हुये यज्ञों द्वारा भगवान् का यजन करना, संग्राम में दुष्ट शत्रुओं का संहार करते हुये गो-ब्राह्मणों की रक्षा के लिये अपने प्राण भी निछावर कर देना ॥ ४१ ॥

सत्ताईसवाँ अध्याय

इस अध्याय में मदालसा ने राजकुमार अलर्क को राजधर्म का उपदेश दिया है । इस उपदेश में धर्मपूर्वक प्रजा का अनुरञ्जन, क्रोध, काम, लोभ,

मद और मान पर विजय, प्रजा से परिमित मात्रा में कर ग्रहण, समस्त प्रजाजनों में समदृष्टि, अधिकारानुरूप कर्तव्यों के पालन में प्रजाजनों का नियोजन तथा वर्णाश्रम धर्म के पालन पर बड़ा बल दिया गया है।

इस अध्याय के ये श्लोक संग्राह्य हैं—

वत्स ! राज्येऽभिषिक्तेन प्रजारञ्जनमादितः।
कर्तव्यमविरोधेन स्वधर्मस्य महीभृता ॥ ४ ॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मानस्तथैव च।
हर्षश्च शत्रवो ह्येते विनाशाय महीभृताम् ॥ १३ ॥

यथेन्द्रश्चतुरो मासान् तोयोत्सर्गेण भूगतम्।
आप्याययेत्तथा लोकं परिहारैर्महीपतिः ॥ २२ ॥

मासानष्टौ यथा सूर्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
सूक्ष्मेणैवाभ्युपायेन तथा शुल्कादिकं नृपः ॥ २३ ॥

वर्णधर्मो न सीदन्ति यस्य राज्ये तथाऽऽश्रमः।
वत्स ! तस्य सुखं प्रेत्य परत्रेह च शाश्वतम् ॥ २६ ॥

वत्स ! राजा का सबसे पहला कर्तव्य है कि वह अपने धर्म का विरोध न करते हुये प्रजा को सब प्रकार प्रसन्न रखे ॥ १३ ॥

जिस प्रकार इन्द्र चार मास तक जल की वर्षा कर भूमि के प्राणियों का आप्यायन करते हैं उसी प्रकार राजा को सुखसाधनों की वर्षा कर प्रजावर्ग का आप्यायन करना चाहिए ॥ २२ ॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अपनी किरणों से पृथ्वी का जल थोड़ा थोड़ा करके आठ महीने में खींचते हैं उसी प्रकार राजा को कर आदि का ग्रहण बहुत सूक्ष्म ढंग से करना चाहिये ॥ २३ ॥

जिस राजा के राज्य में वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म का अवसाद नहीं होता उसे इस लोक तथा परलोक में सदैव सुख की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

अट्ठाईसवाँ अध्याय

इस अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमों के पृथक् पृथक् धर्मों का तथा सब वर्णों एवं आश्रमों के सामान्य धर्मों का वर्णन किया गया है। अध्यायान्त में राजा को निर्देश दिया गया है कि वह अपने वर्ण और आश्रम

के धर्म का पालन न करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दे और सभी मनुष्यों को अपने धर्म का पालन करने की प्रेरणा दे। यह पूरा अध्याय पठन और मनन के योग्य है।

उनतीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में गृहस्थाश्रम और वेद-विद्या को समस्त जगत् का आधार कहा गया है। बलि-वैश्वदेव की विधि तथा अतिथि का लक्षण बताकर बलिकर्म, वैश्वदेवकर्म तथा अतिथिसत्कार को गृहस्थ का परमावश्यक धर्म बताया गया है। सबसे महत्त्व की बात यह कही गयी है कि समाज में धनवान् व्यक्तियों के रहते अन्य लोगों को धनाभाव के कारण जो कुकर्म करने पड़ते हैं उनका उत्तरदायित्व धनी व्यक्तियों पर ही होता है। जैसा कि श्लोक से स्पष्ट है—

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
सीदता यत्कृतं तेन तत्पापं स समश्नुते॥ ३९॥

तीसवाँ अध्याय

यह अध्याय श्राद्धकल्प नाम से प्रसिद्ध है। इसमें नित्य, नैमित्तिक कर्मों का तथा पार्वण, आभ्युदयिक और एकोद्दिष्ट आदि विविध श्राद्ध कर्मों का, उनके योग्य काल और क्रम प्राप्त अधिकारियों का परिचय देकर उन्हें गृहस्थ का अवश्य कर्तव्य धर्म बताया गया है। पूरा अध्याय पढ़ने योग्य है।

एकतीसवाँ अध्याय

यह अध्याय पार्वणश्राद्धकल्प नाम से ख्यात है, इसमें मुख्य रूप से निम्नाङ्कित विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

(१) सात पौरुष सम्बन्ध क्या है? (२) श्राद्ध करने से किन किन लोगों की तृप्ति होती है? (३) श्राद्ध में कौन ग्राह्य हैं और कौन त्याज्य हैं? (४) श्राद्ध के दिन यजमान और यजनीय के लिये क्या क्या वर्ज्य है?

पूरा अध्याय पढ़ने योग्य है।

बत्तीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में उन वस्तुओं और कर्मों का वर्णन किया गया है जो पितरों को विशेष तृप्तिदायक हैं, साथ ही उन वर्जनीय वस्तुओं और कर्मों का भी वर्णन किया गया है जो पितरों को अप्रिय होने से त्याज्य हैं! श्राद्ध करने से श्राद्धकर्ता

को प्राप्त होने वाले फलों का भी विवरण दिया गया है। पूरा अध्याय पठनाई है।

तैंतीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में इस बात का विशेष रूप से वर्णन किया गया है कि किस तिथि और किस नक्षत्र में श्राद्ध करने से क्या फल प्राप्त होता है।

चौंतीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में दुराचार का परित्याग और सदाचार के पालन पर बड़ा बल दिया गया है। जिन सदाचारों का पालन अत्यावश्यक है उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। पूरा अध्याय कण्ठ रखने योग्य है।

पैंतीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में भी सदाचार सम्बन्धी बातों का ही वर्णन करते हुये ग्राह्य और त्याज्य विषयों तथा आचरणों का परिचय दिया गया है। यह अध्याय भी पूरा पूरा पढ़ने योग्य है।

छत्तीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह बताया गया है कि राजा ऋतध्वज और रानी मदालसा ने चौथेपन में राजकुमार अलर्क को राज्यासन पर अभिषिक्त कर स्वयं तपस्या के निमित्त वन को प्रस्थान किया। मदालसा ने जाते समय अलर्क को एक अँगूठी देकर निर्देश किया कि यदि कभी तुम किसी सङ्कट में पड़ना तो इसे खोल कर इसमें अङ्कित अनुशासन को पढ़ना, फिर उसके अनुसार कार्य कर आत्मकल्याण का साधन करना।

सैंतीसवाँ अध्याय

इस अध्याय का कथानक इस प्रकार है। अलर्क ने राजत्व प्राप्त कर पुत्र के समान प्रजाजनों का पालन किया। अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का अनुष्ठान किया। प्रजाजनों में अनुशासन और कर्त्तव्यपरायणता की निष्ठा का जागरण किया। धर्म, अर्थ और काम के अर्जन में व्यापृत हो जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष से विमुख हो गया। उसके इस विषयासक्तिमूलक पतन को देखकर उसके बड़े भाई सुबाहु को चिन्ता हुई। उसने अलर्क को विषय से विरक्त कर उसका उद्धार करने की इच्छा से काशिराज को उसके विरुद्ध युद्ध करने को उभाड़ा। काशिराज ने

उसकी बात मानकर अलर्क के राज्य पर घेरा डाल उसकी शासनव्यवस्था क पङ्गु बना दिया। फलतः थोड़े ही दिनों में वह धन-जन से क्षीण हो गया। इस घटना से विषण्ण और व्याकुल हो उसने माता के निर्देश को स्मरण किया और माता से दी गई अँगूठी खोली। अँगूठी के भीतर उसे निम्नाङ्कित अनुशासन प्राप्त हुआ।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥ २३॥

कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥ २४॥

मनुष्य को सर्वथा सङ्ग का परित्याग करना चाहिये, पर यदि यह न सम्भव हो तो सत्पुरुषों का ही सङ्ग करना चाहिये। क्योंकि सत्सङ्ग ही विषयासक्तिरूपी व्याधि का औषध है। इसी प्रकार कामना का भी सर्वथा परित्याग करना चाहिये, किन्तु यदि यह भी सम्भव न हो तो केवल मोक्ष की ही कामना करनी चाहिये, क्योंकि मोक्ष की कामना ही विषयकामनारूपी व्याधि का औषध है। माता के इस अनुशासन से अलर्क की आँख खुल गई और वह मोक्षकाम हो सत्सङ्ग की खोज करता महायोगी दत्तात्रेय के निकट पहुँचा और उनसे अपना दुःख दूर करने की प्रार्थना की। दत्तात्रेय ने कहा कि मैं तुम्हारा सारा दुःख आज ही दूर कर दूँगा पर तुम यह तो बताओ कि तुम्हें दुःख हुआ कैसे? यह सुन जब अलर्क ने अपने दुःख के कारण पर विचार किया तो उसे ज्ञात हुआ कि उसमें तो कोई दुःख है ही नहीं, दुःख तो शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों में है और वह स्वयं उनसे सर्वथा भिन्न है। उसने तो शरीर आदि के साथ अपना झूठा तादात्म्य मान कर उनके दुःख को अपना दुःख मान लिया है। इस प्रकार योगी दत्तात्रेय के सन्निधानमात्र से ही उसे स्पष्ट हो गया कि वह सब प्रकार के संग से विवर्जित है, राज्य आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और सुबाहु, काशिराज तथा उसमें वस्तुदृष्टि से कोई भेद नहीं है। भेद तो केवल उनके शरीरों में है। इसलिए उसने अपने शरीर के साथ अपनी एकता मान कर शरीर की भिन्नता से जो अपना भेद कर लिया है और उसके आधार पर अपने शत्रु, मित्र की कल्पना कर ली है तथा शरीर से सम्बद्ध राज्य आदि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है यह उसकी सबसे बड़ी भूल है और इसी से उसे दुःख है। अतः इस दुःख के आरोप का परित्याग कर अपने आप को सुखी बना लेना उसी के हाथ में है।

अड़तीसवाँ अध्याय

आत्मा स्वभावतः सुख और दुःख से परे है। सुख और दुःख का सम्बन्ध जगत् के जड़ पदार्थों के साथ है, आत्मा तो अज्ञानवश उन पदार्थों में अपनी ममता मान कर उनके सुख दुःख का अपने में आरोप करता है। अलर्क के इस कथन का समर्थन करते हुए दत्तात्रेय ने बताया, "सचमुच ममता ही मनुष्य के दुःख का निदान है। यह ममता मनुष्य के हृदय में एक महान् वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित है। अज्ञान ही ममत्व-वृक्ष का बीज है, अहङ्कार इसका अङ्कुर है, और ममकार इसका तना है। घर-द्वार, खेत-बारी इसकी शाखायें हैं, धन-धान्य इसके पत्ते हैं, स्त्री-पुत्र आदि इसके पल्लव हैं, पुण्य पाप इसके पुष्प हैं, सुख दुःख इसके फल हैं, अनेक प्रकार की इच्छायें इस पर मड़रानेवाली भ्रमरावली है, असत्संसर्ग से इसका सेचन होता है। यह अनादि काल से लगा है और बराबर बढ़ रहा है। इसने मुक्ति के मार्ग को रोक रखा है। संसार की यात्रा में थक कर मनुष्य इसी की छाया में विश्राम लेता है। इसने मनुष्य को आत्मविस्मृत कर रखा है। सत्सङ्गरूपी पाषाण पर रगड़ कर तेज किये हुये ज्ञान-कुठार से जबतक इसका छेदन न होगा तबतक मुक्ति का मार्ग उद्घाटित न होगा। अतः सत्सङ्ग और विद्या के प्रयोग से इस वृक्ष को काटना मोक्षकाम मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है"। यह सुन अलर्क ने कहा "भगवन्! आप की कृपा से जड़ और चैतन्य के विवेक का श्रेष्ठ ज्ञान मुझे प्राप्त हो गया किन्तु मेरा चित्त विषयवासनाओं से आक्रान्त होने के कारण इतना अधिक चञ्चल है कि वह ब्रह्म के साथ मेरी एकत्व-भावना को स्थिर नहीं होने देता अतः आप कृपा कर मुझे उस योग का उपदेश दें जिसके द्वारा मैं गुणातीत हो स्थायी रूप से ब्रह्म के साथ एकीभूत हो सकूँ"।

इस अध्याय के तीसरे से लेकर सोलहवें तक के श्लोक कण्ठ रखने योग्य हैं।

उनचालीसवाँ अध्याय

अज्ञान के बन्धन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। और यही ब्रह्म के साथ एकीभाव और प्रकृति के गुणों से पृथक् होना है। इसकी सिद्धि सम्यक् ज्ञान से होती है। अतः मोक्षकाम के लिए योग का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। योगाभ्यास के लिए मन को वश में रखना आवश्यक है। मन को वश में रखने के लिए प्राण को वश में रखना आवश्यक है। और प्राण को वश में रखने के लिए प्राणायाम का सेवन आवश्यक है। प्राणायाम के तीन भेद होते हैं, लघु

मध्यम, और उत्तम। लघु प्राणायाम में १२, मध्यम में २४ और उत्तम में ३६ मात्रायें होती हैं। पलकों को ऊपर उठाकर नीचे गिराने में जो समय लगता है, वही मात्रा कहा जाता है। लघु प्राणायाम से स्वेद, मध्यम से कम्प और उत्तम से विषाद पर विजय प्राप्त होती है। ध्वस्ति, प्राप्ति, संवित् और प्रसाद ये प्राणायाम की चार अवस्थायें होती हैं। ध्वस्ति में शुभ-अशुभ कर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं और चित्त की वासनायें नष्ट हो जाती हैं। प्राप्ति में लोक और परलोक के समस्त भोगों की कामनायें समाप्त हो जाती हैं। साधक अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लग जाता है। संवित् में मनुष्य बड़ा प्रभावशाली हो जाता है। उसे ऐसी अतुल ज्ञानसम्पत् प्राप्त हो जाती है कि वह भूत, भविष्यत्, दूरस्थित तथा अदृश्य वस्तुओं का भी दर्शन करने लगता है। प्रसाद अवस्था में मन, बुद्धि, पञ्चप्राण, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के समस्त विषय प्रसन्न हो उठते हैं। प्राणायाम की सिद्धि तभी सम्भव होती है जब मनुष्य पद्मासन, अर्द्धासन, स्वस्तिकासन आदि आसनों से बैठ कर शरीर को समभाव से रख संयत रूप से योग का अभ्यास करता है। प्राणायाम के अभ्यास के साथ साथ प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का अभ्यास करना भी आवश्यक है। मन, प्राण और इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना प्रत्याहार है, आत्मा में चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न धारणा है। आत्मा में चित्त की वृत्तियों को प्रवाहित करना ध्यान है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इन चारों का अभ्यास करने से ही चित्त समाहित हो मोक्ष देने वाले सम्यक् ज्ञान को पैदा करने में समर्थ होता है। योगाभ्यास के लिये परिमित सात्त्विक आहार, शरीर की अश्रान्ति, मन की अव्याकुलता, एकान्त, शान्त, स्वच्छ, और समतल स्थान तथा अनुष्णा-शीत समय का होना परमावश्यक होता है। योगाभ्यास के समय कुछ बाधायें भी उपस्थित होती हैं। उनके निवारणार्थ साधक को सदा सजग रहना और आनेवाली बाधा के विरोधी भाव की धारणा से उसे दूर करना आवश्यक है। जैसे कभी उग्र गर्मी की अनुभूति होने लगे तो अपने आप को चारों ओर से हिम से घिरे होने की भावना करे और कड़ी सर्दी की अनुभूति होने पर अपने को निर्धूम अग्नि के निकटवर्त्ती होने वा सूर्य के प्रचण्ड ताप में स्थित रहने की भावना करे। योगाभ्यासी को अपने शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखना भी आवश्यक है क्योंकि स्वस्थ एवं सबल शरीर ही सारी सफलताओं का मूल है। चञ्चलता का न होना, नीरोग रहना, निष्ठुर न होना, उत्तम सुगन्ध का आना, मल-मूत्र में कमी, शरीर में कान्ति, मन में प्रसन्नता और वाणी में

कोमलता का होना—इन चिह्नों से योग-प्रवृत्ति के उदय होने की पहचान होती है। कठोर सर्दी और गर्मी से कष्ट न होना, किसी जीव-जन्तु से भय न होना, ऐसे चिह्नों से योग की सिद्धि की आसन्नता का ज्ञान होता है। साधक के प्रति लोगों के मन में अनुराग हो जाना, परोक्ष में उसकी प्रशंसा करना और किसी प्राणी को उससे भय न होना—इन लक्षणों से योग की सिद्धि की सम्पन्नता का ज्ञान होता है। साधक को योग-प्रवृत्ति के लक्षणों का प्रकाशन तथा योग-सिद्धि पर विस्मय नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे उसकी शक्ति का ह्रास होता है।

चालीसवाँ अध्याय

आत्मदर्शन हो जाने पर साधक का सामर्थ्य बढ़ जाता है, विविध प्रकार के योग और अभ्युदय उसे सुलभ मालूम होने लगते हैं। अतः उसे उन भोगों तथा अभ्युदयों की कामना होने लगती है। यह कामना उसके साधना-मार्ग का उपसर्ग है, साधक को इस कामना का यत्नपूर्वक परित्याग कर देना चाहिये। उसके बाद सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से प्रातिभ, श्रावण, दैव, भ्रम और आवर्त नामक पाँच विघ्न उपस्थित होते हैं। "प्रातिभ" प्रतिभा का वह विकास है जिससे समस्त वेद, काव्य, शास्त्र और शिल्पादि विद्याओं का ज्ञान हो जाता है। "श्रावण" श्रोत्र शक्ति का वह विकास है जिससे साधक को सम्पूर्ण शब्द सुनायी पड़ने लगते हैं। "दैव" का अर्थ है देवशक्ति का विकास, जिससे साधक देवता के समान समस्त दिशाओं को देखने लगता है। ध्येय से च्युत हो निरालम्बन होकर मन के भटकने का नाम भ्रम है। बहुमुखी ज्ञान के उद्रेक से चित्त के उद्वेग व विस्मय का नाम आवर्त है। इन विघ्नों से बचने का भी उपाय प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिये। इसके बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, मन और बुद्धि की सात सूक्ष्म धारणायें होती हैं। धारणा का अर्थ है अपने भीतर उन सातों के समावेश की भावना। पृथ्वी आदि पाँच भूतों की धारणा से उन भूतों के सन्निधान की अपेक्षा किये बिना ही उनके गुणों की अनुभूति होने लगती है। मन और बुद्धि की धारणा से अर्थात् संसार के समस्त मन और बुद्धि के अपने भीतर समावेश होने की भावना से साधक के मन-बुद्धि में सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का मनन और बोध करने की शक्ति का विकास हो जाता है। मोक्षकाम को इन धारणाओं का भी त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायित्व, यह आठ ऐश्वर्य

भी साधक को प्राप्त होते हैं। अपने को परम सूक्ष्म बना लेने की शक्ति 'अणिमा' है। किसी भी कार्य को अति शीघ्र सम्पन्न कर लेने की शक्ति लघिमा है। सबसे पूजा प्राप्त कर लेने की शक्ति महिमा है। समस्त वस्तु को प्राप्त कर लेने की शक्ति प्राप्ति है। सर्वत्र व्यापक होने की शक्ति 'प्राकाम्य' है। सब कुछ कर डालने की शक्ति ईशित्व है, सब को वश में कर लेने की शक्ति वशित्व है। अपनी समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर लेने की शक्ति कामावसायित्व है। साधक को इन ऐश्वर्यों के मोह में भी नहीं फँसना चाहिये। जब साधक इन समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त कर ब्रह्म में ही अपना चित्त स्थिर कर लेता है तब उसे यथार्थ मुक्ति प्राप्त होती है। और मुक्त हो जाने पर योगी फिर कभी भी पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं आता, वह सर्वदा के लिये ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

एकतालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में योगी के आचार-व्यवहार का वर्णन है, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

योगी अपमान को अमृत और सम्मान को विष समझे। जनसमूह में सम्मिलित न हो। सदाचारी, श्रद्धालु गृहस्थों से ही भिक्षा प्राप्त करे। अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग, अलोभ, अहिंसा इन पाँच व्रतों का और अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, सात्त्विक तथा स्वल्प आहार, नित्य स्वाध्याय—इन पाँच नियमों का सदैव पालन करे। भिन्न भिन्न विषयों के जानने की उत्सुकता का परित्याग कर अपने ज्ञातव्य आत्मतत्त्व में ही अपनी बुद्धि स्थिर रखे। असत्य न बोले और न असच्चिन्तन करे। पवित्र, अप्रमत्त, जितेन्द्रिय और एकान्तप्रेमी होकर ब्रह्म-चिन्तन में निरन्तर लगा रहे।

बयालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में प्रणव—ओंकार की महत्ता वर्णित है, जो संक्षेप में इस प्रकार है:—ओंकार में साढ़े तीन अक्षर वा मात्रायें हैं—अकार, उकार, मकार और अनुस्वार—बिन्दु। प्रथम तीन मात्रायें सगुण और अन्तिम अर्ध मात्रा निर्गुण है। ओंकाररूप धनुष और स्वात्मा रूप बाण से ब्रह्म का वेधन करना ही योगी का लक्ष्य है। भूः, भुवः, स्वः यह तीनों लोक, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय-ये तीनों अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों देव, ऋक्, यजुः, साम ये तीनों वेद ओंकार के ही विकास हैं। इसकी पहली मात्रा-अकार-व्यक्त का, दूसरी मात्रा-उकार-अव्यक्त का, तीसरी मात्रा-मकार चित्-शक्ति का और चौथी अर्धमात्रा-

बिन्दु परमपद का प्रतीक है। शब्दान्तर में ओंकार ही परब्रह्म है, इसी के ध्यान से योगी संसार-बन्धनों से मुक्त हो परब्रह्म को प्राप्त करता है।

तैंतालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में उन अरिष्टों-मृत्युलक्षणों का वर्णन है, जिनसे योगी अपनी मृत्यु की आसन्नता समझ कर सावधान हो जाता है और मृत्युकाल में होने वाले विविध कष्टों से अपनी रक्षा करता है। इन अरिष्टों की जानकारी के लिये इस अध्याय का मूल ग्रन्थ से अध्ययन करना आवश्यक है। अध्याय के मध्य में अनेक उपायों द्वारा यह समझाया गया है कि—अनासक्ति, निर्ममता, और धैर्य योगी के लिये बड़े महत्त्व की वस्तु है। अध्यायान्त में अलर्क ने उत्तमज्ञान और योग का उपदेश देने के निमित्त योगी दत्तात्रेय के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है और काशिराज से मिल अपना यह निश्चय व्यक्त किया है कि—

यथाऽयं भौतिकः सङ्घस्तथान्तःकरणं नृणाम्।
गुणास्तु सकलास्तद्वदशेषेष्वेव जन्तुषु॥ ७७॥

चिच्छक्तिरेक एवायं यदा नान्योऽस्ति कश्चन।
तदा का नृपते! ज्ञानान्मित्रारिप्रभुभृत्यता॥ ७८॥

सोऽहं न तेऽरिर्न ममासि शत्रुःसुबाहुरेषो न ममापकारी।
दृष्टं मया सर्वमिदं यथावदन्विष्यतां भूप! रिपुस्त्वयाऽन्यः॥ ८२॥

जिस प्रकार यह देह भूतों का विकार है उसी प्रकार अन्तःकरण और समस्त गुण भी उसी के विकार हैं। समस्त प्राणियों में एक ही चित् शक्ति अनुस्यूत है। अतः न कोई किसी का मित्र है न शत्रु है। न स्वामी है। न सेवक है। और इसी कारण न मैं तुम्हारा शत्रु हूँ और न तुम मेरे शत्रु हो। यह सुबाहु भी मेरा अपकारी नहीं है। मैंने इन सब बातों को अच्छी तरह समझ लिया है। अतः राजन्! अब अपने लिये तुम कोई दूसरा शत्रु ढूँढ़ो।

चौवालीसवाँ अध्याय

दशवें अध्याय में सुमति नामक ब्राह्मणकुमार का उसके पिता के साथ जिस संवाद का सूत्रपात हुआ था इस अध्याय के अन्त में उस का उपसंहार किया गया है।

अध्याय की कथा इस प्रकार है:—अलर्क को ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् सुबाहु ने काशिराज से कहा—"राजन्! मैंने सचमुच राज्य पाने के लिये आप

को अलर्क के ऊपर आक्रमण करने की प्रार्थना नहीं की थी किन्तु ग्राम्य भोगों में आसक्त हो जीवन के मुख्य लक्ष्य मोक्षप्राप्ति से विमुख हुए अपने अनुज अलर्क का उद्धार करने के लिये। अलर्क के आसक्तित्याग से मेरा वह लक्ष्य पूर्ण हो गया। निश्चय ही यह कार्य आप की सहायता से सम्पन्न हुआ है क्योंकि यदि आप आक्रमण कर उसे संकट में न डालते तो उसके मन में वैराग्य की भावना का उदय न होता। यह कह कर काशिराज की प्रार्थना पर सुबाहु ने उन्हें आत्मज्ञान और आसक्तित्याग का उपदेश देकर अपने स्थान के लिये प्रस्थान किया। तत्पश्चात् काशिराज ने अलर्क के प्रति आदर प्रकट कर अपने नगर के लिये प्रस्थान किया और अलर्क ने अपनी राजधानी में जा अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्यासन पर अभिषिक्त कर योगाभ्यास के लिये वन की शरण ली।

इस अध्याय के निम्नाङ्कित दो श्लोक स्मरण रखने योग्य हैं।

उपेक्ष्यते सीदमानः स्वजनो बान्धवःसुहृत्।
यैर्नरेन्द्र! न तान् मन्ये सेन्द्रियान् विकला हि ते ॥१५॥

सुहृदि स्वजने बन्धौ समर्थे योऽवसीदति।
धर्मार्थकाममोक्षेभ्यो वाच्यास्ते तत्र नत्वसौ ॥१६॥

राजन्! जो लोग अपने दुखी स्वजन, बान्धव और मित्र की उपेक्षा करते हैं, मेरी समझ से वे इन्द्रिय-युक्त नहीं हैं, निश्चय ही वे इन्द्रियविकल हैं ॥ १५ ॥ सामर्थ्यवान् मित्र, स्वजन तथा बन्धु के रहते यदि कोई धर्म, अर्थ काम और मोक्ष से च्युत होता है तो इसके लिये वह निन्दनीय नहीं है अपितु वे सामर्थ्यशाली मित्र आदि निन्दनीय हैं जिनके रहते उसकी दुर्गति होती है।।१६।।

पैंतालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में पक्षियों ने जैमिनि को उस संवाद का सुनाना आरम्भ किया है जो जगत् के उद्भव और प्रलय के सम्बन्ध में मार्कण्डेय और क्रौष्टुकि के बीच हुआ था। उस संवाद में कहा गया है कि पूर्वकाल में अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा के प्रकट होते ही उनके मुखों से क्रमशः पुराण और वेद प्रकट हुए। ब्रह्माके मानसपुत्र सप्तर्षियों ने वेदों को तथा भृगु आदि मुनियों ने पुराणों को ग्रहण किया। भृगु से च्यवन ने, च्यवन से ब्रह्मर्षियों ने, ब्रह्मर्षियों से दक्ष ने और दक्ष से मार्कण्डेय ने इसे प्राप्त किया। फिर मार्कण्डेय ने उस पुराण के अनुसार क्रौष्टुकि को बताया कि—

इस भौतिक जगत् का जो मूल कारण है उसे प्रधान कहते हैं, उसीको महर्षियों ने अव्यक्त कहा है और वही सूक्ष्म, नित्य एवं सदसत्स्वरूपा प्रकृति है। सृष्टि के आदि काल में केवल ब्रह्म था, वह ब्रह्म अजन्मा, अविनाशी, अजर अप्रमेय और आधारनिरपेक्ष है। वह गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द से रहित है, वह अनादि अनन्त है। वह सम्पूर्ण जगत् की योनि और तीनों गुणों का कारण है। वह आधुनिक नहीं किन्तु नितान्त पुरातन, सनातन है। वह ज्ञान-विज्ञान से अगम्य है। सृष्टि का समय आने पर वही क्षेत्रज्ञ रूप से गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति को क्षुब्ध करता है, जिसके फलस्वरूप महत्तत्त्व का प्राकट्य होता है, महत्तत्व से वैकारिक, तैजस, भूतादि, अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस—इस त्रिविध अहंकार का आविर्भाव होता है। तामस अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध इन पंचतन्मात्राओं का उद्भव होता है और इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी इन पांच भूतों का उद्भव होता है। इन भूतों में क्रम से शब्द, शब्द, स्पर्श; शब्द, स्पर्श, रूप; शब्द, स्पर्श, रूप, रस; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का विकास होता है। और इसीलिये पूर्व, पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर भूत स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम होते हैं। फिर राजस अहंकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना, और घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रियों की तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों की और सात्त्विक अहंकार से इन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता तथा ग्यारहवें इन्द्रिय मन की उत्पत्ति होती है। फिर महत्तत्व से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त सब तत्त्व मिल कर पुरुष से अधिष्ठित हो प्रधान तत्त्व के सम्बन्ध से एक अण्ड उत्पन्न करते हैं। यह अण्ड धीरे धीरे बढ़ता है और इस के साथ ही उसके भीतर प्रतिष्ठित ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञ पुरुष भी वृद्धि को प्राप्त होता है। फिर आवश्यक वृद्धि और विकास हो जाने के पश्चात् प्रथम शरीरधारी पुरुष के रूप में ब्रह्मा का प्राकट्य होता है औ फिर वही ब्रह्मा उसी अण्ड में समस्त सचराचर जगत् की सृष्टि करते हैं।

छियालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह कहा गया है कि जिस समय इस सम्पूर्ण जगत् का प्रकृति में लय हो जाता है उस समय की स्थिति को प्राकृत प्रलय कहा जाता है। उस समय प्रकृति और पुरुष निष्क्रिय और निर्विकार हो समानभाव से विद्यमान रहते हैं। उस समय प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रज, और तम सर्वथा समभाव से रहते हैं। कोई किसी से किंचित् भी न्यून वा अधिक नहीं

रहता। उस समय उनका केवल सदृश परिणमन होता है, विसदृश परिणमन का गन्ध भी नहीं होता। फिर जब यथासमय परमेश्वर के योग से प्रकृति में क्षोभ होता है तब पूर्व अध्याय में बताये गये क्रम से महत्तत्त्व से अण्ड पर्यन्त विकास होने के पश्चात् रजोगुण-प्रधान ब्रह्मा का प्राकट्य होता है। उनके द्वारा समस्त सृष्टि की रचना होती है। फिर उस सृष्टि की रक्षा के निमित्त सत्त्वगुण के उत्कर्ष से विष्णु का तथा उसके लय के निमित्त तमोगुण के उद्रेक से रुद्र का प्राकट्य होता है। जिस प्रकार एक ही खेतिहर बीज बोने, पौधा पालने और अन्त में फसल के काटने से वापक, पालक, लावक नामों से व्यवहृत होता है उसी प्रकार एक ही परमेश्वर जगत् की सृष्टि, स्थिति, और संहार करने के कारण ब्रह्मा, विष्णु, और महेश नामों से व्यवहृत होता है।

मनुष्य के एक वर्ष के बराबर देवता का एक अहोरात्र होता है। और देवताओं के बारह सहस्र वर्षों का एक चतुर्युग होता है, उनमें चार सहस्र आठ सौ वर्षों का सत्ययुग, तीन सहस्र छः सौ वर्षों का त्रेता, दो सहस्र चार सौ वर्षों का द्वापर और एक सहस्र दो सौ वर्षों का कलियुग होता है। बारह सहस्र दिव्य वर्षों की चतुर्युगी जब एक सहस्र बार बीत चुकती है तब ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के एक दिन में क्रमशः चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर के अलग अलग इन्द्र, देवता, सप्तर्षि, मनु और मनुपुत्र होते हैं, जो साथ ही पैदा होते और साथ ही मरते हैं। एक मनु के जन्म से मृत्युपर्यन्त तक के काल को एक मन्वन्तर कहा जाता है। गणना करने से एक मन्वन्तर का काल एकहत्तर चतुर्युग तथा कुछ कम पाँच सहस्र तीन सौ तीन दिव्य वर्ष होता है। जब ब्रह्मा का एक दिन बीतता है तब उसी के बराबर उनकी एक रात्रि होती है। ब्रह्मा की इस रात्रि को ही नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है। इस प्रकार की ३६० दिन-रात्रि का ब्रह्मा का एक वर्ष होता है और ऐसे वर्ष से सौ वर्षों की ब्रह्मा की आयु होती है, ब्रह्मा के इन सौ वर्षों को पर और पचास वर्षों को परार्ध कहा जाता है। पहले परार्ध के अन्त में पद्म नामक महाकल्प हुआ था। इस समय दूसरे परार्ध का वाराह नामक प्रथम कल्प चल रहा है।

सैंतालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि पाद्मकल्प अर्थात् पहले परार्ध के बाद जो प्रलय हुआ था उसके पश्चात् जब ब्रह्मा जी सोकर उठे तब उन्होंने जगत् को शून्य देखा फिर उनकी सहायता के हेतु श्रीविष्णु, जिसे विद्वानों ने नर से

उत्पन्न होने से नार कहे जाने वाले जल को अयन—स्थान बनाने के कारण नारायण नाम से संबोधित किया है, पृथ्वी को जल में मग्न जान कर उसका उद्धार करने के लिये वाराह का अवतार ग्रहण किया और जब उन्होंने पृथ्वी को उठाकर जल के ऊपर रख दिया तब ब्रह्मा ने पूर्वकल्प के समान इस वर्तमान सृष्टि की रचना की।

अड़तालीसवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने पहले मानस पुत्र उत्पन्न किये। बाद में तमोगुणी शरीर से असुर और रात्रि का, सत्त्वगुणी शरीर से देवता और दिन का अन्य सत्त्वगुणी शरीर से पितर और सन्ध्या काल का तथा रजोगुणी शरीर से मनुष्य और ज्योत्स्ना का क्रम से निर्माण हुआ। उनके पूर्व मुख से ऋग्वेद, दक्षिण मुख से यजुर्वेद, पश्चिम मुख से सामवेद, और उत्तरमुख से अथर्ववेद का प्राकट्य हुआ। शेष सारा जड़-चेतन जगत् भी उन्हीं के शरीर से कल्पारम्भ में ही प्रकट होता है। नवीन कल्प में जीवों की सारी सृष्टि उनके पूर्वकाल के कर्मों के अनुसार होती है और सारे सृष्ट पदार्थों का नामकरण भी उन्हीं के द्वारा वेदों में होता है।

उनचासवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि ब्रह्मा जी ने पहले अपने मुख से एक सहस्र सत्त्वगुणप्रधान नर-नारी उत्पन्न किये। फिर कुछ दिन बाद अपने वक्षःस्थल से रजोगुणप्रधान एक सहस्र नर-नारी उत्पन्न किये। और उसके बाद अपनी जंघा से तमोगुणप्रधान एक सहस्र और अन्य नर-नारी उत्पन्न किये। इस तीसरी श्रेणी के नर-नारियों के जीवन में सात्त्विकता और संयम की बहुत कमी थी। इन में स्वतः मैथुन की इच्छा जाग्रत हुई और फिर उससे मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ। पहले लोगों में इच्छा, द्वेष, लोभ, मोह, आदि दुर्गुण उद्बुद्ध नहीं थे अतः उनमें परस्पर कलह नहीं होता था। वे घरबार नहीं रखते थे। इधर उधर नदी और समुद्र के किनारे तथा पर्वत और जंगलों में यथेच्छ विचरण करते थे। बाद में सर्दी-गर्मी के प्रकोप से बचने के लिये धीरे धीरे लोगों में स्थान बनाने की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। फलतः लोग पुर, खेट, द्रोणीमुख, शाखानगर, खर्वट, द्रमी और घोष का निर्माण करने लगे। जो दो कोस लम्बा और उसका आठवां भाग चौड़ा होता था तथा जिसके चारों ओर चहारदीवारी एवं खाइयाँ होती

थीं उसे पुर कहा जाता था। जिसकी लम्बाई चौड़ाई पुर से आधी होती थी वह खेट कहा जाता था। जो पुर के चौथे भाग के बराबर होता था उसे खर्वट कहा जाता था। जिसकी लम्बाई चौड़ाई पुर के आठवें भाग के बराबर होती थी वह द्रोणीमुख कहा जाता था। जहाँ मन्त्री और सामन्त आदि रहते थे तथा भोग्य वस्तुओं की बहुलता होती थी उसे शाखानगर कहा जाता था। जहाँ अधिकांश शूद्र रहते थे, खेती के योग्य भूमि होती थी, बाग बगीचे होते थे, उसे ग्राम कहा जाता था।

नगर के बाहर किसी विशेष कार्य के निमित्त लोगों के रहने के लिये जो स्थान बनाया जाता था उसे बस्ती कहा जाता था। जहाँ ऐसे लोग निवास करते थे जिनके पास अपनी निजी खेती नहीं होती थी किन्तु बलप्रयोग तथा लूट-पाट से जीविकार्जन करते थे उसे द्रमी कहाँ जाता था। जहां गोप लोग अपने पशुओं के साथ रहा करते थे और दूध दही बहुलता से प्राप्त होता था उसे घोष कहा जाता था।

जब लोग घर बना कर सर्दी-गर्मी से बचाव का प्रबन्ध कर चुके तब लोगों को जीविका की किसी व्यवस्थित प्रणाली के खोज की चिन्ता हुई क्योंकि उन वृक्षों का युग अब बीत चुका था जिनके मधु का पान कर लोग पहले संतृप्त रहा करते थे। त्रेता के आरम्भ में एक बड़ी वर्षा हुई, निम्न भूमि में वर्षा का जल एकत्र होने से स्रोत, तालाब, और नदियों का निर्माण हुआ। जल और पृथ्वी के संयोग से अनायास ही चौदह प्रकार के अन्न पैदा हुये। वृक्षों और लताओं में फल, फूल, लगने लगे और इन सब वस्तुओं से लोगों का जीवन-निर्वाह होने लगा। फिर अकस्मात् लोगों में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ का उदय हुआ। लोग दल बना कर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार नदी, खेत, पर्वत, और जंगल पर अपना अपना अधिकार स्थापित करने लगे। धीरे धीरे अन्नों की स्वतः उपज बन्द हो गई, समस्त खाद्य वस्तुओं का अकाल हो गया। खाद्याभाव के कारण सारी प्रजा भूख से व्याकुल हो उठी। फिर ब्रह्मा जी ने प्रजा का कष्ट दूर करने के लिये मेरु पर्वत को वत्स बना पृथ्वीरूप गो का दोहन किया। उस दोहन से अन्नके बीज प्रकट हुये। फिर वे बीज बोये गये और उनसे अन्न की उपज हुई। कुछ दिन बाद बोये हुये बीजों का प्राकृतिक विकास अवरुद्ध हो गया, तब जोत-पात आदि से पृथ्वी की प्रसवशक्ति के उद्बोधन की प्रथा चली और लोग श्रमद्वारा बीज और धरती से अन्न पैदा करने लगे। इस

प्रकार जब जीविका की एक व्यवस्थित प्रणाली का विकास हो गया तब ब्रह्मा जी ने गुण-कर्म के अनुसार मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इन चार वर्णों में और व्यक्ति के जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और संन्यास इन चार भागों-आश्रमों में विभक्त कर वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा बाँधी और वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वालों के लिये उचित पुरस्कार की व्यवस्था भी की। जैसे अपने अपने धर्म को पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रम से ब्रह्मलोक, देवलोक, मरुत्-लोक और गन्धर्व लोक की प्राप्ति एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास का कर्त्तव्य पालन करने वाले लोगों को क्रम से ऊर्ध्वरेता महर्षियों का लोक, सप्तर्षिलोक, प्राजापत्य लोक तथा अमृतत्व-ब्रह्मपद की प्राप्ति।

पचासवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि ब्रह्मा जी के सनन्दन आदि पुत्र जन्म से ही वीतराग हो गये, अतः उन से सृष्टि के सम्बन्ध में कोई सहायता न मिली, तब उन्होंने अपने मन से भृगु पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, और वसिष्ठ नाम के नव पुत्र और पैदा किये। उन्हीं के समान सामर्थ्यशाली होने से ये पुत्र भी ब्रह्मा कहलाये। इन के अतिरिक्त अपने समान ही प्रभावशाली एक और पुत्र उन्होंने पैदा किया जो स्वायम्भुव मनु नाम से ख्यात हुआ। इस पुत्र ने परम तपस्विनी एवं पतिव्रता शतरूपा से विवाह किया। इन दोनों के सम्पर्क से प्रियव्रत और उत्तानपाद नाम के दो पुत्र तथा आकूति, और प्रसूति नाम की दो कन्यायें पैदा हुईं। ये दोनों क्रम से दक्ष और रुचि नामक प्रजापतियों से विवाहित हुईं। रुचि और आकूति से यज्ञ नामके पुत्र और दक्षिणा नाम की कन्या का जन्म हुआ। यज्ञ के याम नाम से विख्यात बारह पुत्र हुये और वही स्वायम्भुव मन्वन्तर के देवता हुये। दक्ष और प्रसूति से चौबीस कन्यायें उत्पन्न हुईं जिनमें पहले की तेरह कन्यायें श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि, और कीर्ति धर्म से विवाहित हुईं और बाद की ग्यारह कन्यायें, ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संनति, ऊर्ज्जा, अनसूया, स्वाहा, और स्वधा क्रम से भृगु, महादेव, मरीचि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अत्रि, अग्नि और पितरों से विवाहित हुईं। धर्म की पत्नी श्रद्धा से काम उत्पन्न हुआ और उसने रति नाम की अपनी पत्नी से हर्ष नाम का पुत्र पैदा किया। धर्म की

अन्य पत्नियों ने भी अपनी-अपनी सन्तान पैदा किये। धर्म के विरोधी अधर्म के हिंसा नाम की एक ही पत्नी थी जिससे अनृत नामक पुत्र और निर्ऋति नामक कन्या का जन्म हुआ। फिर इन दोनों से नरक और भय नाम के दो पुत्र तथा माया और वेदना नाम की दो कन्यायें पैदा हुईं। इनमें भय और माया से मृत्यु तथा नरक और वेदना से दुःख का जन्म हुआ।

दश इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार और दुःसह ये चौदह अलक्ष्मी के पुत्र हैं। इनमें दुःसह बड़ा भयंकर है और वह अनाचारियों को दुःख देता है, इसके वर्ज्य और ग्राह्य स्थानों का वर्णन देखने योग्य तथा शिक्षाप्रद है।

एक्यावनवाँ अध्याय

इसमें कलि की कन्या निर्माष्टि से दुःसह का विवाह, उन दोनों के आठ पुत्र और आठ कन्याओं का जन्म, उन से तथा उनकी सन्तानों से होने वाले विविध उपद्रव और जन-कष्ट तथा उनसे बचने के उपाय इन बातों का वर्णन विस्तार से किया गया है, जिसका ज्ञान बड़ा लाभप्रद है।

बावनवाँ अध्याय

इस अध्याय में रुद्र-सर्ग का वर्णन विस्तार से किया गया है और बताया गया है कि कल्प के आदि में ब्रह्मा ने ध्यान द्वारा रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव नाम के आठ पुत्र पैदा किये जो क्रम से सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण और सोम के अधिष्ठाता हुये। मार्कण्डेय ऋषि स्वयं भी इसी सर्ग की सन्तति हैं जो मृकण्डु ऋषि की पत्नी मनस्विनी के गर्भ से पैदा हुये थे। अध्यायान्त में यह फलश्रुति प्राप्त होती है कि जो इस अध्याय के विषयों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है वह अनपत्य नहीं होता।

तिरपनवाँ अध्याय

इस अध्याय में स्वायम्भुव नामक आद्य मन्वन्तर का वर्णन किया गया है जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है। स्वायम्भुव मनु के वंश की यह मर्यादा रही है कि उस वंश के राजा लोग ज्येष्ठ पुत्र के युवा होने पर उसे राज्यासन पर अभिषिक्त कर स्वयं तपस्या के निमित्त जंगल चले जाया करते थे। इस मर्यादा के अनुसार, जिनके नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाता है उन ऋषभपुत्र

भरत ने अपने पुत्र सुमति को राज्य देकर वन की शरण ली थी। इस वंश के लोगों ने सप्तद्वीपा वसुन्धरा का शासन किया था।

चौवनवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि समूची पृथ्वी का विस्तार पचास करोड़ योजन है। इसमें जम्बूद्वीप, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। इनमें पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर द्वीप दुगुने बड़े हैं और ये क्रमशः लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दही, दूध और जल के समुद्रों से घिरे हैं। इनमें जम्बूद्वीप की लम्बाई चौड़ाई एक लाख योजन है, भारतवर्ष इसी का एक भाग है। द्वीपों का वर्णन बड़ा रोचक है। मूल पुस्तक से देखना चाहिये।

पञ्चावनवाँ अध्याय

इस अध्याय में अनेक पर्वतों, नद, नदियों, जंगलों, उपवनों तथा सरोवरों का सुन्दर वर्णन किया गया है। मेरु पर्वत के उत्तर में जो पर्वतीय भूभाग है उसे इस पृथ्वी का स्वर्ग कहा गया है। अध्यायान्त में भारतवर्ष की स्थिति बता कर उसे कर्मभूमि बताया गया है और कहा गया है कि भारतवर्ष ही इस पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ भाग है क्योंकि यहीं से मनुष्य के उत्तर जीवन की तयारी होती है और यहीं से मानव अपने कर्मों और साधनों से स्वर्ग तथा अपवर्ग का लाभ कर सकता है तथा प्रमाद करने पर अपना अधःपतन भी कर सकता है।

छप्पनवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि जगत्कारण भगवान् नारायण के ध्रुवाधार नामक पद से प्रादुर्भूत हो त्रिपथगामिनी गङ्गा ने पहले सोम में प्रवेश किया फिर वहाँ से सूर्य की किरणों के सम्पर्क से संवर्धित हो वह मेरु पर्वत के शिखर पर गिरीं, जहाँ से उनकी चार धारायें हो गईं। जो धारा उस पर्वत के पूरब वही वह सीता, जो दक्षिण बही वह अलकनन्दा, जो उत्तर बही वह स्वरक्षु, तथा जो पश्चिम बही वह सोमा नाम से ख्यात हुई। भागीरथी गङ्गा, जो राजा भगीरथ के उद्योग से हिमालय से चलकर पूर्व समुद्र तक बहती है, वह गङ्गा की दूसरी धारा अलकनन्दा की एक शाखा है। अध्यायान्त में किम्पुरुष आदि देशों के सम्बन्ध में बहुत सी मनोरम बातें बतायी गयीं हैं।

सत्तावनवाँ अध्याय

इस अध्याय में भारतवर्ष का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है उसके विभिन्न देशों, पर्वतों, जंगलों, और नद, नदियों का बड़ा रमणीय चित्रण किया गया है।

अट्ठावनवाँ अध्याय

इस अध्याय में भारतवर्ष के आधार भगवान् कूर्म का तथा मनुष्यों के शुभाशुभ की सूचना देने वाले प्रकारों का एवं अशुभ परिहार के उपायों का वर्णन किया गया है जो मूल ग्रन्थ से देखने योग्य है।

उनसठवाँ अध्याय

इस अध्याय में भद्राश्व, केतुमाल और कुरुवर्ष का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन प्रस्तुत किया गया है ॥

साठवाँ अध्याय

इसमें किम्पुरुष, हरिवर्ष, मेरुवर्ष, रम्यक, और हिरण्मयवर्ष का सुन्दर वर्णन है। वर्णन अत्यन्त मनोरम और पूर्ण परिचयात्मक है।

एकसठवाँ अध्याय

इस अध्याय से स्वारोचिष नामक द्वितीय मन्वन्तर के वर्णन का आरम्भ हुआ है। इसमें वरूथिनी नामक अप्सरा और एक ब्राह्मण का संवाद बड़ा रोचक और शिक्षाप्रद है। वरूथिनी के प्रलोभनों और आकर्षणों की उपेक्षा जिस प्रकार ब्राह्मण ने की है उससे चरित्र-रक्षण की सहज प्रेरणा प्राप्त होती है। वरूथिनी की प्रणय-प्रार्थना के उत्तर में ब्राह्मण ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि—

अभीष्टा गार्हपत्याद्याः सततं ये त्रयोऽग्नयः।
रम्यं ममाग्निशरणं देवी विस्तरणी प्रिया ॥ ६५ ॥
न भोगार्थाय विप्राणां शस्यते हि वरूथिनि !।
इह क्लेशाय विप्राणां चेष्टा प्रेत्य फलप्रदा ॥ ७० ॥
परस्त्रियं नाभिलषेदित्यूचुर्गुरवो मम।
तेन त्वां नाभिवाञ्छामि कामं विलप शुष्य वा ॥ ७२ ॥

अर्थात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, और आहवनीय ये तीन अग्नि ही मेरे आराध्यदेव हैं। अग्निशाला ही मेरा रमणीय स्थान है तथा कुशासन से सुशोभित वेदी ही मेरी प्रिया है। ब्राह्मण के लिये भोग-चेष्टा प्रशस्त नहीं मानी गयी है अपितु धर्मानुष्ठान और कर्त्तव्यपरायणता की चेष्टा ही प्रशस्त मानी गई है। क्योंकि वह इस लोक में क्लेशप्रद होने पर भी परलोक में उत्तम फल प्रदान करती है। मेरे गुरुजनों ने शिक्षा दी है कि परायी स्त्री की अभिलाषा

कदापि न करनी चाहिये। अतः मैं तुम्हें किसी भी स्थिति में नहीं चाह सकता, भले तुम निरन्तर रोती रहो अथवा शोक से सूख जाओ। अध्यायान्त में ब्राह्मण ने गार्हपत्य अग्नि से प्रार्थना करते हुये कहा है कि—

यथा वै वैदिकं कर्म स्वकाले नोज्झितं मया।
तेन सत्येन पश्येयं गृहस्थोऽद्य दिवाकरम् ॥ १८ ॥
यथा च न परद्रव्ये परदारे च मे मतिः।
कदाचित् साभिलाषाऽभूत्तथैतत्सिद्धिमेतु मे ॥ १९ ॥

अर्थात् यदि मैंने कभी भी ठीक समय पर वैदिक कर्म का परित्याग न किया हो और यदि कभी भी मेरे मन में पराये धन तथा परायी स्त्री की अभिलाषा न हुई हो तो सूर्यास्त के पूर्व घर पहुँचने का मेरा मनोरथ पूर्ण हो।

ब्राह्मण के इस वचन से कर्त्तव्यनिष्ठा और चरित्रनिष्ठा से मनुष्य को अद्भुत आत्मबल प्राप्त होने का विश्वास प्राप्त होता है।

बासठवां अध्याय

इस अध्याय में यह कहा गया है कि ब्राह्मण अपने कर्म और चरित्र के बल अग्निदेव की शक्ति प्राप्त कर यथा समय अपने घर पहुँच जाता है। उसके चले जाने से वरूथिनी उसके विरह में व्यथित हो जाती है। कलि नाम का गन्धर्व, जिसकी प्रणय-प्रार्थना वरूथिनी द्वारा कभी ठुकरा दी गयी थी, इस अवसर सेलाभ उठाने के लिए उस ब्राह्मण के रूप में वरूथिनी के पास पहुँचता है और उसका सम्भोग करने में सफल होता है।

तिरसठवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि विप्ररूपधारी गन्धर्व के सम्पर्क से वरूथिनी को स्वरोचिष् नामक पुत्र पैदा हुआ और वह जब शस्त्र, शास्त्र और कलाओं में प्रवीण तथा युवा हुआ तब उसने इन्दीवराक्ष नामक विद्याधर की कन्या मनोरमा से विवाह कर उससे अस्त्रहृदयविद्या तथा उसके पिता से आयुर्वेदविद्या विवाह के शुल्क के रूप में प्राप्त की। मनोरमा की प्रार्थना मान उसकी विभावरी तथा कलावती नाम की सखियों को, जो क्रम से मन्दार नामक विद्याधर तथा पारमुनि की कन्यायें थीं और किसी मुनि के शाप से कुष्ठ एवं क्षय रोग से ग्रस्त थीं आयुर्वेदिक चिकित्सा से रोग मुक्त किया।

चौसठवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह बताया गया है कि विभावरी और कलावती ने रोगमुक्त हो अपने उपकार के बदले में स्वरोचिष् को आत्मसमर्पण किया और उसने अपनी पत्नी मनोरमा की अनुमति से उन दोनों को भी अपनी पत्नी बनाया। विभावरी ने सब प्राणियों की बोली समझने की विद्या और कलावती ने पद्मिनी नामक निधि-विद्या उसे विवाह के शुल्क के रूप में प्रदान की।

पैंसठवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि एक दिन जब वह अपनी तीनों पत्नियों के साथ किसी पर्वत पर वनविहार कर रहा था तब अपने विषय में एक कलहंसी और एक चक्रवाकी का वार्त्तालाप सुना। कलहंसी चक्रवाकी से कह रही थी कि .....

धन्योऽयं दयिताभीष्टो ह्येताश्चास्यातिवल्लभाः।
परस्परानुरागो हि धन्यानामेव जायते॥ ११॥

यह पुरुष और ये स्त्रियाँ धन्य हैं जो इनमें इतना परस्पर प्रेम है, क्योंकि भाग्यशाली स्त्री-पुरुषों में ही परस्पर प्रेम होता है। इसके उत्तर में चक्रवाकी कह रही थी कि ....

नायं धन्यो यतो लज्जा नान्यस्त्रीसन्निकर्षतः।
अन्यां स्त्रियमयं भुङ्क्ते न सर्वास्वस्य मानसम्॥१३॥
चित्तानुराग एकस्मिन्नधिष्ठाने यतः सखि!।
ततो हि प्रीतिमानेष भार्यासु भविता कथम्?॥ १४॥
एता न दयिताः पत्युर्नैतासां दयितः पतिः।
विनोदमात्रमेवैता यथा परिजनोऽपरः॥ १५॥

यह पुरुष धन्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक स्त्री के समक्ष दूसरी स्त्री से सम्पर्क करने में इसे लज्जा नहीं आती। यह अन्य स्त्री से भी सम्पर्क रखता है। इसका चित्त किसी में अनुरक्त नहीं है। किसी एक ही आलम्बन में अनुराग होना चित्त का स्वभाव है अतः अनेक भार्याओं में इसकी प्रीति कैसे हो सकती है। यह निश्चय जानो कि न इन स्त्रियों में इसका प्रेम है और न इसमें इन स्त्रियों का प्रेम है। इनका पारस्परिक प्रेम-व्यवहार एक विनोदमात्र है। इनका सम्बन्ध अन्य परिजनों के सम्बन्ध से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार उसने

एक मृग की भी बात सुनी, जो कामातुर हो आलिङ्गन करने को उत्सुक हरिणियों से कह रहा था कि ....

> नाहं स्वरोचिस्तच्छीलो न चैवाहं सुलोचनाः ? ।
> निर्लज्जा बहवः सन्ति तादृशास्तत्र गच्छत ॥ २३ ॥
> एका ह्यनेकानुगता यथा हासास्पदं जने ।
> अनेकाभिस्तथैवैको भोगदृष्ट्या निरीक्षितः ॥ २४ ॥
> यस्तादृशोऽन्यस्तच्छीलः परलोकपराङ्मुखः ।
> तं कामयत भद्रं वो नाहं तुल्यः स्वरोचिषा ॥ २६ ॥

न तो मैं स्वरोचिष् ही हूँ और न उसके जैसा मेरा शील ही है। बहुत से मृग उसके जैसे निर्लज्ज हैं तुम उन्हीं के पास जाओ। जिस प्रकार अनेक पुरुषों से सम्पर्क रखनेवाली एक स्त्री की संसार में हँसी होती है उसी प्रकार अनेक स्त्रियों से सम्पर्क रखनेवाले एक पुरुष की भी हँसी होती है। जो स्वरोचिष् के समान चरित्र का हो तथा उसी के समान परलोक से विमुख हो, तुम उसी की कामना करो मैं स्वरोचिष् जैसा नहीं हूँ।

छाछठवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वरोचिष् को उक्त बातें सुन कर अपने ऊपर घृणा हुई, उसने अपना मार्ग बदलना चाहा। पर जब वह उन स्त्रियों के निकट पहुँचा तब फिर उन्हीं में आसक्त हो अपना कर्त्तव्य भूल गया और छः सौ वर्ष तक पुनः उनके साथ विहार किया। इस बीच उसे मनोरमा से विजय, विभावरी से मेरुनाद और कलावती से प्रभाव नामक पुत्र पैदा हुए। तब उसने अपने राज्य के तीन भाग कर एक एक भाग पुत्रों को सौंप दिया और स्वयं निश्चिन्त हो अपनी पत्नियों के साथ विहार करने लगा। एक दिन वह जंगल गया और वहाँ एक वाराह को देख उसे ज्यों ही बाण से विद्ध करने को उद्यत हुआ त्यों ही एक मृगी ने उसे रोक उस वन की देवी के रूप में अपना परिचय दिया और अपने को पत्नी के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। स्वारोचिष ने उसकी बात मान ली और उससे एक पुत्र पैदा किया जो स्वरोचिष् नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक दिन स्वरोचिष् ने पुनः एक हंस और हंसी का वार्त्तालाप सुना। हंस भोग के लिये उत्सुक हुई हंसी से कह रहा था कि ....

... ...
उपसंह्रियतामात्मा चिरं ते क्रीडितं मया ॥ ३१ ॥ (उत्तरार्ध)
किं सर्वकालं भोगैस्ते आसन्नं चरमं वयः ॥ ३२ ॥ (पूर्वार्ध)
... ... ॥ ३२ ॥

अब अपने काम का नियन्त्रण करो, बहुत समय तक तुमने मेरे साथ विहार किया। सदा विषय-भोग में पड़े रहने से क्या लाभ ! अब चौथापन आ गया। इतना कहने पर भी जब हंसी की मनोवृत्ति न बदली तब हंस ने फिर कहा कि—

नाहं स्वरोचिषस्तुल्यः स्त्रीबाध्यो वा जलेचरि ! ।
विवेकवांश्च भोगानां निवृत्तोऽस्मि च साम्प्रतम् ॥ ४० ॥

मैं स्वरोचिष् के समान स्त्रीके वश में नहीं हूँ, मैं विवेकी हूँ और अब मैं विषय-भोग से निवृत्त हूँ।

सड़सठवाँ अध्याय

इस अध्याय में स्वरोचिष् के मनु होने का और उस मन्वन्तर के देव, ऋषि, इन्द्र और प्रमुख राजवंशों का वर्णन किया गया है।

अड़सठवाँ अध्याय

इस अध्याय में पद्मिनी विद्या की आश्रित निधियों का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

पद्मिनी विद्या की देवता लक्ष्मी हैं। उसकी आश्रित निधियाँ आठ हैं जो पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील और शंख नाम से प्रसिद्ध हैं। पद्म एक सात्विक निधि है और यह सात्विक मनुष्यों को महान् भोगों को सुलभ करती है। इससे सोना, चाँदी आदि धातुओं की प्राप्ति और उनके क्रय-विक्रय से सम्पत्ति की वृद्धि होती है। इस निधि से युक्त मनुष्य यज्ञ, दक्षिणा, धर्मोत्सव तथा देवमन्दिर-निर्माण आदि कार्य कराता है। महापद्म भी सात्त्विक निधि है यह अतिशय सात्त्विक पुरुषों को प्राप्त होती है। इससे पद्मराग आदि रत्न, मोती और मूँगे की प्राप्ति और उनके क्रय-विक्रय से सम्पत्ति की वृद्धि होती है। इस निधि से युक्त मनुष्य योग और योगियों का प्रेमी होता है। मकर-यह तामस निधि है यह तमोगुणी मनुष्य को प्राप्त होती है इससे युक्त मनुष्य अस्त्रों का व्यवसाय करता है और राजा तथा राज्या-

धिकारियों से स्नेह करता है। इसकी सम्पत्ति वंशानुगामिनी नहीं होती। इसे चोर, डाकू तथा युद्ध से हानि उठानी पड़ती है। कच्छप—यह भी तामस निधि है और तमोगुणी को प्राप्त होती है। इस निधि से युक्त मनुष्य तामसी-प्रकृति का होता हुआ भी पुण्यवान् लोगों से व्यवहार करना पसन्द करता है। यह किसी का विश्वास नहीं करता, कृपण स्वभाव का होता है, सम्पत्ति को छिपा कर रखने में इसे आनन्द मिलता है। मुकुन्द—यह राजस निधि है, इससे युक्त मनुष्य रजोगुणी होता है। विविध वाद्यों के संग्रह में उसकी रुचि होती है। नर्त्तक, गायक, नट, भट, आदि का वह सम्मान करता है। स्त्रियों और स्त्री-लम्पटों से उसकी प्रीति होती है। नन्दक, वा नन्द—यह राजस और तामस निधि है। इससे युक्त मनुष्य धातु, रत्न और उत्तम अन्नों का संग्रह और व्यवसाय करता है। यह स्वजनों और अतिथियों का आदर करता है। इसकी सम्पत्ति सात पीढ़ी तक चलती है। यह स्वयं रसिक और रसिक जनों का प्रेमी होता है। उसका स्नेह समीपस्थों से कम और दूरस्थों से अधिक होता है। नील—यह भी राजस और तामस निधि है अतः उसी प्रकृति के मनुष्यों को प्राप्त होती है। इससे युक्त मनुष्य वस्त्र, कपास, अन्न, फल, फूल, मोती, मूँगा, शंख, शुक्ति और लकड़ी आदि का व्यवसाय करता है। तालाब, बावली, बाग और पुल आदि बनवाने में उसकी विशेष रुचि होती है। उसकी सम्पत्ति तीन पीढ़ी तक रहती है। शङ्ख—यह भी राजस और तामस निधि है, इस निधि से युक्त मनुष्य बड़ा स्वार्थी होता है। वह परिवार पर भी अपना अर्जित धन व्यय करने में संकोच करता है, अपना व्यक्तिगत खाना, पहिनना ही उसे अच्छा लगता है।

उनहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय से औत्तम नामक तीसरे मन्वन्तर के वर्णन का उपक्रम किया गया है। राजा उत्तानपाद-को उत्तम नाम का एक पुत्र था। उसका विवाह बभ्रु की कन्या बहुला से हुआ था। उत्तम उससे बहुत प्रेम करता था पर वह उससे उदास रहा करती थी। एक दिन एक समारोह में उत्तम उसे सुरा देने लगा, उसने उसे अस्वीकार कर दिया। इससे उत्तम ने अपना अपमान मान उसे किंकरों द्वारा जंगल भेज दिया। कुछ समय बाद एक दिन एक ब्राह्मण उसके पास आया और कहा कि मेरी भार्या की चोरी हो गई है, तुम किसी प्रकार मेरे लिए उसे सुलभ करो। क्योंकि—

त्वं रक्षिता नो नृपते! षड्भागादानवेतनः ।
धर्मस्य तेन निश्चिन्ताः स्वपन्ति मनुजा निशि ॥ २७ ॥

तुम हम प्रजाजनों के रक्षक हो; प्रजाजन अपनी रक्षा के लिये ही अपनी आय का छठा भाग वेतन के रूप में तुम्हें देते हैं और तुम्हारे ही भरोसे रात में निश्चिन्त होकर सोते हैं। राजा ने कहा कि तुम्हारे कथनानुसार तुम्हारी पत्नी कुरूपा और कर्कशा थी तब फिर वैसी स्त्री की चिन्ता तुम क्यों करते हो। उससे उत्तम स्त्री का प्रबन्ध मैं तुम्हारे लिये कर दूँगा। तुम उसे भूल जाओ। यह सुन ब्राह्मण ने कहा कि.........

रक्ष्या भार्या महीपाल! इत्याह श्रुतिरुत्तमा।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ ३५ ॥
आत्मा हि जायते तस्यां सा रक्ष्याऽतो नरेश्वर!।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ ३६ ॥
तस्यामरक्ष्यमाणायां भविता वर्णसङ्करः।
स पातयेन्महीपाल! पूर्वान् स्वर्गादधः पितॄन् ॥ ३७ ॥

राजन्! वेद की आज्ञा है कि मनुष्य को अपनी भार्या की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि भार्या की रक्षा से सन्तान की रक्षा होती है। भार्या में मनुष्य तनय के रूप में स्वयं जन्म लेता है अतः भार्या की रक्षा से स्वयं अपनी रक्षा होती है। भार्या की रक्षा न करने पर उससे वर्णसङ्कर का जन्म होता है जो पितरों के अधःपतन का कारण होता है। अतः आप मेरी पत्नी को उपलब्ध करने का उद्योग कीजिये क्योंकि राजा होने से आप पर रक्षा का दायित्व है। ब्राह्मण का न्याययुक्त वचन सुनकर राजा उसकी पत्नी के अन्वेषण में निकला और उसकी जानकारी प्राप्त करने के निमित्त एक ऋषि के निकट गया। ऋषि ने पत्नी का परित्याग करने से उसे पतित समझ कर उसका आतिथ्य नहीं किया और कहा कि बलाक नामक राक्षस ने ब्राह्मण की पत्नी को उत्पलावत नामक वन में रखा है, वहाँ से लाकर उसे ब्राह्मण को प्रदान करो जिससे तुम्हारे समान भार्याहीन होकर वह भी पाप का भाजन न बने।

सत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह बताया गया है कि ऋषि की आज्ञा से राजा उत्पलावत वन में गया। वहाँ ब्राह्मण की पत्नी को देखा और उससे पता लगा कर

उसको चुरा कर ले जाने वाले राक्षस से मिला। राक्षस ने राजा का सत्कार किया और कहा कि किसी "दुर्भाव से मैंने ब्राह्मण की स्त्री को नहीं चुराया है किन्तु ब्राह्मण रक्षोघ्न मन्त्रों का प्रयोग कर यज्ञों से मेरा उच्चाटन करता था, अतः उसे भार्या से वियुक्त कर उसकी शक्ति को शिथिल करने के हेतु मैंने उसका अपहरण किया है। मैं आप की प्रजा हूँ, आप जो आज्ञा दें उसका पालन करूँ।" यह सुन राजा ने सन्तुष्ट हो उससे कहा कि तुम इस स्त्री के दुष्ट शील का भक्षण कर इसे विनीत बना इसके घर पहुँचा दो। राक्षस ने राजा की आज्ञा शिरोधार्य की और राजा के स्मरण करने पर किसी भी समय उसकी सेवा में उपस्थित होने की प्रतिज्ञा की।

एकहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि राजा ब्राह्मण की पत्नी को उसके घर भेज कर ऋषि के पास जब गया तब ऋषि ने उससे कहा—

पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रबलं नृणाम्।
विशेषतश्च धर्मश्च सन्त्यक्तस्त्यजता हि ताम्॥ ९॥
अपत्नीको नरो भूप! न योग्यो निजकर्मणाम्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नृप!॥ १०॥
त्यजता भवता पत्नीं न शोभनमनुष्ठितम्।
अत्याज्यो हि यथा भर्त्ता स्त्रीणां भार्या तथा नृणाम्॥ ११॥

राजन्! पत्नी मनुष्यों के धर्म, अर्थ और काम का मुख्य साधन है, उसका त्याग करने से धर्म का विशेषरूप से त्याग हो जाता है। मनुष्य ब्राह्मण हो चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, पत्नी के अभाव में अपने कर्मों के योग्य नहीं रह जाता। तुमने अपनी पत्नी का परित्याग कर अच्छा नहीं किया। क्योंकि जैसे स्त्री को अपने पति का त्याग करना अनुचित है वैसे ही पुरुष को भी अपनी पत्नी का त्याग करना अनुचित है। यह सुन राजा अपनी करनी पर तथा अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करने की असमर्थता पर पश्चाताप और चिन्ता करने लगा। तब ऋषि ने कहा "चिन्ता मत करो। तुम्हारी पत्नी पाताल में नागराज कपोतक की पुत्री नन्दा के साथ विद्यमान है और उसके चरित्र में किसी प्रकार का कल्मष नहीं है। शुभ मुहूर्त में पाणिग्रहण न होने से ही तुम्हें उसका पूर्णानुराग नहीं प्राप्त हुआ। अब तुम वहाँ से उसे लाकर अपने साथ रखो, और उसके साथ सानन्द रहते हुये धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो"।

बहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि राजा ने अपनी राजधानी में आकर ब्राह्मण से कहा "विप्र! तुम तो अपनी पत्नी पाकर कृतार्थ हुये और मैं पत्नी के विना दुःखी हूँ। यदि किसी प्रकार पत्नी प्राप्त भी हो जाय तब भी सुख की आशा नही है क्योंकि वह मुझ से प्रतिकूल रहा करती है। यदि तुम उसे मुझ में अनुरक्त कर सकने का कोई उपाय कर सको तो मेरा बड़ा उपकार हो"। यह सुन ब्राह्मण ने राजा से मित्रविन्दा नाम की इष्टि करायी और जब वह इष्टि सविधि पूर्ण हो गई तब ब्राह्मण ने राजा से कहा "अब आप की पत्नी आप में पूर्ण अनुरक्त रहेगी अतः आप उसे प्राप्त करने का यत्न कीजिये"। यह सुन राजाने सत्यप्रतिज्ञ, महाबलशाली उस राक्षस का स्मरण किया। राक्षस तत्काल ही उपस्थित होगया और राजा की आज्ञा से पाताल जा वहाँ से रानी को ला दिया। अब राजा ने उसे अपने में पूर्ण अनुरक्त पाया। रानी ने भी राजा को प्रसन्न जान कर कहा "राजन्! मैं जिस नागकन्या के साथ रही वह मेरे ही कारण अपने पिता के शाप से गूँगी हो गई है अतः मुझे उससे उऋण करने के लिये उसका गूँगापन दूर कराने का कोई उपाय कीजिये"। यह सुन राजा ने उस ब्राह्मण से पुनः प्रार्थना की। ब्राह्मण ने राजा की प्रार्थना मान सारस्वती नामक इष्टि की और सारस्वत सूक्तों का जप किया। अनुष्ठान पूरा होते ही नागकन्या की वाणी खुल गई। जब गर्ग ने नागकन्या को इसका रहस्य बताया तब वह राजा के नगर में जा अपनी सखी से मिली और कृतज्ञता प्रकट कर राजा से उसने कहाकि "राजन्! मेरी सखी के गर्भ से तुम्हें एक पुत्र होगा जो औत्तम नाम से ख्यात होगा और मनु का पद प्राप्त कर नवीन मन्वन्तर का प्रवर्त्तन करेगा"।

अध्यायान्त में बताया गया है कि औत्तम मनु के इस उत्तम आख्यान का पठन और श्रवण करनेवाले मनुष्य को इष्टजनों से कभी वियोग नहीं होता।

तिहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में औत्तम मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, ऋषि, और राजवंश का परिचय दिया गया है जिसका उल्लेख इस निवन्ध में पहले किया जा चुका है।

चौहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में तामस मनु के जन्म उस मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, ऋषि और राजवंश का वर्णन है। इसका उल्लेख भी इस निवन्ध में पहले हो चुका है। इस अध्याय में एक श्लोक मिलता है जैसे.........

पितर्यसति नारीभिर्व्रियते हि पतिः स्वयम् ।
सति ताते कथं चाहं वृणोमि मुनिसत्तम ! ॥ ३४ ॥

पिता के अभाव में स्त्रियाँ अपने पति का चुनाव स्वयं करती हैं । पिता के रहते, मुनिश्रेष्ठ ! मैं ऐसा कैसे कर सकती हूँ ? इस श्लोक के अनुसार पिता के न रहने पर ही स्त्रियों को अपना पति चुनने का अधिकार है किन्तु पिता के रहते इस विषय में उन्हें स्वतन्त्रता नहीं है ।

पचहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में रैवत मनु के जन्म, उस मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, ऋषि और राजवंश का वर्णन है । इसकी भी चर्चा इस निबन्ध में आ चुकी है । इस अध्याय में कुपुत्र के विषय में ऋतवाक् ऋषि का हृदयोद्गार निम्नांकित श्लोकों में वर्णित हुआ है जो सर्वथा यथार्थ है । जैसे……

... ... ।
अपुत्रता मनुष्याणां श्रेयसे न कुपुत्रता ॥ ७ ॥

मनुष्य का पुत्रहीन होना अच्छा पर कुपुत्रवान् होना अच्छा नहीं, क्योंकि

कुपुत्रो हृदयायासं सर्वदा कुरुते पितुः ।
मातुश्च स्वर्गसंस्थांश्च स्वपितॄन् पातयत्यधः ॥ ८ ॥
सुहृदां नोपकाराय पितॄणां च न तृप्तये ।
पित्रोर्दुःखाय धिग्जन्म तस्य दुष्कृतकर्मणः ॥ ९ ॥
करोति सुहृदां दैन्यमहितानां च तथा मुदम् ।
अकाले च जरां पित्रोः कुपुत्रः कुरुते ध्रुवम् ॥ १२ ॥

कुपुत्र पिता और माता के हृदय को सदैव सन्तप्त करता है और स्वर्गस्थ पितरों को नीचे गिरा देता है उससे न मित्रों का उपकार होता न पितरों की तृप्ति होती । उस कुकर्मी का जन्म पिता-माता के लिये दुःखदायक होता है । कुपुत्र मित्रों को दुःख और शत्रु को आनन्द देता है । वह माता पिता को चिन्ता से असमय में ही बूढ़ा बना देता है ।

छिहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में चाक्षुष मनु के जन्म, उस मन्वन्तर के देवता इन्द्र, ऋषि और राजवंश का वर्णन है जिसका उल्लेख इस निबन्ध में पहले आ चुका

है। इस अध्याय में शिशु चाक्षुष और उसकी माता का संवाद, आनन्द और गुरु का संवाद तथा आनन्द और ब्रह्मा का संवाद बड़ा मनोरम और उपदेशपूर्ण है।

सतहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में वैवस्वत मन्वन्तर के वर्णन का उपक्रम किया गया है और उसके प्रसंग में वैवस्वत, यम, यमुना, सावर्णिक, शनैश्चर, और तपती के जन्म का वर्णन किया गया है। इनमें प्रथम तीन की उत्पत्ति सूर्यदेव की पत्नी संज्ञा, जो विश्वकर्मा की पुत्री थी, उससे हुई थी और अन्तिम तीन की उत्पत्ति उनकी उपपत्नी छाया-संज्ञा से हुई थी। इस अध्याय में अपनी पुत्री छाया के प्रति विश्वकर्मा का निम्नाङ्कित वचन बड़ा व्यावहारिक है।

बान्धवेषु चिरं वासो नारीणां न यशस्करः।
मनोरथो बान्धवानां नार्या भर्तृगृहे स्थितिः॥ १६॥

स्त्रियों का बहुत दिन तक पिता के घर बन्धु-बान्धवों के बीच रहना यशस्कर नहीं होता। उनका अपने पति के घर रहना ही बन्धु-बान्धवों को अभीष्ट होता है।

अठहत्तरवाँ अध्याय

इस अध्याय में देवताओं द्वारा सूर्यदेव का बड़ा उत्तम वर्णन है। उसमें बताया गया है कि सूर्य समस्त जगत् के कारण हैं। सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं की गति से गतिमान् होता है। रात और दिन की प्रवृत्ति भी उन्हीं की गति पर निर्भर है। उनकी किरणों के सम्पर्क के विना किसी वस्तु में शुचिता नहीं आ सकती। समस्त वेद उन्हीं से प्रादुर्भूत हुये हैं और सब प्रकार के काल-व्यवहार के प्रवर्त्तक वही हैं। स्तुति का उल्लेख करने के पश्चात् अश्वा के रूप में तप करती हुई सूर्य की पत्नी छाया की नासिका से दो अश्विनीकुमारों की तथा उस अवसर पर पृथ्वी पर गिरे सूर्य के वीर्य से रेवन्त की उत्पत्ति बतायी गयी है। अध्याय के अन्तिम भाग में बताया गया है कि संज्ञा से उत्पन्न हुये सूर्य की सन्तानों में प्रथम वैवस्वत ने मनु का पद तथा द्वितीय पुत्र यम ने प्राणिमात्र के धर्मद्रष्टा धर्मराज का पद प्राप्त किया। और तीसरी सन्तान कन्या यमुना नदी बन कर कलिन्द देश में प्रवाहित हुई। अश्विनीकुमार देवताओं के चिकित्सक हुये। रेवन्त गुह्यकों का राजा हुआ। और छाया-संज्ञा से उत्पन्न सन्तानों में प्रथम

पुत्र सावर्णिक नाम से ख्यात हुआ जिसे वैवस्वत मनु के बाद मनु का पद प्राप्त होगा। दूसरे पुत्र शनैश्चर ने ग्रहों के मध्य में स्थान प्राप्त किया और तीसरी सन्तान कुरुदेश के राजा संवरण की पत्नी हुई।

उनासीवाँ अध्याय

इस अध्याय में वैवस्वत मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, ऋषि, और प्रमुख नृपतियों का वर्णन किया गया है और वैवस्वत मनु के चरित्र के अध्ययन को पापनाशक एवं पुण्यकारक बताया गया है।

असीवाँ अध्याय

इसमें सावर्णि मनु के काल के देवता, इन्द्र, ऋषि और प्रमुख नृपों का वर्णन किया गया है।

एकासीवाँ अध्याय

इस अध्याय से दुर्गासप्तशती का आरम्भ हुआ है। इस अध्याय में अङ्कित कथानक इस प्रकार है। स्वारोचिष मन्वन्तर में सुरथ नाम का एक चक्रवर्ती राजा था। एकबार कोलाविध्वंसी लोगों से उसका बड़ा युद्ध हुआ और वह उसमें पराजित हो गया। अब वह समस्त भूमण्डल का राजा न रहकर केवल अपने नगर मात्र का राजा रह गया। उसके बलवान् शत्रुओं ने वहाँ भी उस पर आक्रमण किया जिससे वह और भी दुर्बल हो गया। फिर उसके मन्त्रियों ने उसके कोष और सेना पर अधिकार कर लिया और उसे राज्य से निकाल दिया। तब वह जंगल में जा मेधा ऋषि के आश्रम में दुःख और चिन्ता का जीवन बिताने लगा। एक दिन उसी आश्रम में समाधि नामक एक वैश्य से उसकी भेंट हुई। दोनों में पारस्परिक परिचय का आदान-प्रदान हुआ। वैश्य भी राजा के समान ही दुःखी था क्योंकि उसके कुटुम्बियों ने उसकी बड़ी सम्पत्ति का यथेच्छ उपभोग करने की इच्छा से उसे घर से निकाल दिया था। दोनों अपनी पुरानी सम्पत्ति और स्वजनों की चिन्ता करते रहते थे। वे यह नहीं समझ पाते थे कि जिन लोगों ने निर्ममता और निष्ठुरता से उन्हें अपमानपूर्वक पृथक् कर दिया है उनके प्रति भी उनके मन में ममता और स्नेह क्यों है? अतः वे अपने इस मोह का कारण जानने तथा उससे छुटकारा पाने के निमित्त आश्रम के अध्यक्ष मेधा ऋषि के निकट गये। ऋषि ने महामाया को उनके मोह का कारण बताते हुये महामाया के आविर्भाव की कथा सुनायी। उन्होंने कहा कि एकबार

प्रलय की अवस्था में भगवान् विष्णु क्षीरसागर में शेष की शय्या पर शयन कर रहे थे। लक्ष्मी जी उनकी सेवा में लगी थीं और ब्रह्मा जी उनके नाभिकमल में उपस्थित थे। उसी समय विष्णु के कानों के मैल से मधु और कैटभ नाम के दो राक्षस उत्पन्न हुये और वे ब्रह्माजी को मारने दौड़े। ब्रह्मा ने अपनी असमर्थता और असहायता देख निद्रारूपिणी महामाया की स्तुति की। महामाया ने प्रसन्न हो विष्णु को जगा दिया। फिर विष्णु का उन असुरों से पाँच सहस्र वर्षों तक घोर युद्ध हुआ और अन्त में विष्णु के चक्र से उनका संहार हुआ।

इस अध्याय में अध्यात्म की अनेक बातें हैं जिनका मूलग्रन्थ से अध्ययन करना मनोरम और हितकर है।

बयासीवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि महिषासुर के घोर अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न की प्रतिक्रिया करने के निमित्त ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओं के सामूहिक तेज से एक परम तेजस्विनी नारी के रूप में महामाया का प्राकट्य हुआ। जब उन्होंने विविध अस्त्र, शस्त्रों से सुसज्जित हो सिंह पर सवार हो कर युद्ध-नाद किया तो सारा संसार कम्पित हो उठा। महिषासुर की बड़ी बड़ी सेनायें चिक्षुर, चामर, उदग्र, महाहनु, असिलोमा, वाष्कल और विडालाक्ष के नेतृत्व में युद्धभूमि में अवतीर्ण हुईं जिनके साथ देवी का बड़ा विकट युद्ध हुआ। अन्त में सारी असुरसेनायें देवी के हाथ मारी गईं।

तिरासीवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि अपनी विशाल सेनाओं का संहार देख सेनापति युद्ध में स्वयं सामने आ गये और भिन्न भिन्न पद्धतियों से लड़ने लगे। जब वे सब के सब मार डाले गये तथा दुर्धर और दुर्मुख जैसे महापराक्रमी राक्षसों का भी वध हो गया तब असुरेन्द्र महिषासुर स्वयं युद्ध में उतरा। इसकी लड़ाई बड़ी उग्र और अद्भुत थी। यह कभी महिष, कभी सिंह और कभी हाथी बन कर लड़ता था; कभी भूमि और कभी अन्तरिक्ष से लड़ता था; लड़ते लड़ते कभी अदृश्य हो अस्त्रों की वर्षा करने लगता था। इस भीषणतम युद्ध ने समस्त त्रैलोक्य को क्षुब्ध कर दिया। अन्त में वाहन को छोड़ देवी स्वयं महिषासुर के ऊपर कूद पड़ीं और उसे पैर के नीचे दबा तलवार से उसका शिरश्छेद कर दीं। उसका वध होते ही देवताओं में हर्ष की लहर दौड़ गई और समस्त देवता प्रसन्न हो देवी की स्तुति करने लगे।

चौरासीवाँ अध्याय

इस अध्याय में समस्त असुर-कुल और उसके नायक महिषासुर के वध से प्रसन्न हुये देवताओं द्वारा की गई देवी की स्तुति का उल्लेख किया गया है। इस स्तुति से देवी के स्वरूप का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस स्तुति में बताया गया है कि देवी ने ही अपनी शक्ति से सारे जगत् का विस्तार किया है। उनकी महिमा का परिच्छेद ब्रह्मा, विष्णु, और महेश भी नहीं कर सकते। देवी ही पुण्यवानों की लक्ष्मी, पापियों की दरिद्रता, बुद्धिमानों की बुद्धि, सत्पुरुषों की श्रद्धा और कुलीनों की लज्जा हैं। वही जगत् का कारण अव्याकृता प्रकृति, देवताओं और पितरों की स्वाहा एवं स्वधा तथा मोक्षकाम को मोक्षप्रदान करनेवाली परमा विद्या हैं। देवी ही ऋक्, यजु, और साम की शब्दमयी मूर्ति, सम्पूर्ण जगत् का कष्ट काटनेवाली वार्ता, समस्त शास्त्रों के रहस्य का प्रकाश करनेवाली सरस्वती, भवसागर से उद्धार करनेवाली दुर्गा, विष्णु के हृदय में निवास करनेवाली लक्ष्मी और शिव के शिर पर विराजनेवाली गौरी हैं। उनकी शक्ति और उनका बल अपार है। वह दृष्टिमात्र से ही समस्त असुरों का संहार कर सकती हैं। यह उनकी कृपा थी कि उन्होंने शस्त्राघात से पापात्मा असुरों को पवित्र कर उन्हें सद्गति देने के निमित्त युद्ध का आडम्बर किया। स्तुति से प्रसन्न हो उन्होंने देवताओं को वरदान दिया कि जब भी वे उनका स्मरण करेंगे तब वे इसी प्रकार उनके कष्टों का निवारण करती रहेंगी।

पचासीवाँ अध्याय

इस अध्याय में यह कथा है कि शुम्भ और निशुम्भ के अन्याय और अत्याचार से पीड़ित देवताओं ने अपनी सहायता के हेतु महामाया की स्तुति की। वह स्नानार्थिनी के वेष में प्रकट हो देवताओं से पूछने लगीं "आप लोग किस की स्तुति कर रहे हैं ?" उसी समय उनके शरीर से शिवा प्रकट हुईं और कौशिकी नाम से ख्यात हुईं और शिवा के शरीर से निकल जाने के कारण पार्वती कृष्णवर्ण होकर कालिका नाम से ख्यात हुईं। शिवा ने बताया कि ये देवता शुम्भ से उत्पीड़ित होकर मेरी स्तुति कर रहे हैं। उस समय शुम्भ के भृत्य चण्ड-मुण्ड ने शिवा के परम अभिराम रूप को देखा और उन्होंने शुम्भ से उनकी असाधारण सुन्दरता का वर्णन कर उन्हें आयत्त करने के लिये शुम्भ को उसकाया। शुम्भ ने सुग्रीव नामक दूत से शिवा के पास प्रणय-सन्देश भेजा।

शिवा ने उत्तर दिया—"मैंने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि जो युद्ध में मुझे जीतेगा वही मेरा भर्ता हो सकेगा"। सुग्रीव अपने स्वामी का बल-प्रताप सुना कर देवी का उत्तर ले लौट गया।

छियासीवाँ अध्याय

शुम्भ देवी का उत्तर सुन कुपित हो उठा और उन्हें बलपूर्वक पकड़ लाने के के लिये धूम्रलोचन को आज्ञा दी। धूम्रलोचन एक बड़ी सेना ले देवी के पास गया पर वहाँ देवी द्वारा मार डाला गया। इस समाचार से क्रुद्ध हो शुम्भ ने चण्ड-मुण्ड को बहुत बड़ी सेना के साथ भेजा और देवी के वाहन सिंह को मार कर देवी को बाँध लाने का आदेश दिया।

सतासीवाँ अध्याय

जब चण्ड, मुण्ड के नेतृत्व में असुरों की सेना देवी के निकट पहुँच युद्धोद्यम करने लगी तो देवी को क्रोध आ गया। क्रोध आते ही उनके ललाट से खड्ग-हस्ता काली प्रकट हुईं और असुर सेना से उनका विकट युद्ध हुआ। अन्त में सारी सेना का संहार कर काली ने शिवा को चण्ड-मुण्ड का शव अर्पित करते हुये कहा कि युद्ध-यज्ञ में मैंने इन पशुओं की बलि आप को दी, अब शुम्भ और निशुम्भ को आप का वध स्वयं करना होगा। शिवा ने चण्ड-मुण्ड का वध करने के कारण काली को चामुण्डा नाम से विख्यात किया।

अठासीवाँ अध्याय

चण्ड-मुण्ड का वध हो जाने के बाद कम्बु, धौम्र, कालक, दौर्हृद, मौर्य, और कालकेय असुरों की सुविशाल सेनाएँ युद्ध के निमित्त उपस्थित हुईं। इस युद्ध में ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री शक्तियों ने भी शिवा का सहयोग किया। इन शक्तियों और शिवा के अस्त्र-प्रहार से जब इन सारी असुर सेनाओं का नाश हो गया तब रक्तबीज नाम का विचित्र असुर युद्ध के लिए उपस्थित हुआ। उसके शरीर से रक्त के जितने बूँद पृथ्वी पर गिरते थे उतने ही उसी जैसे बलशाली असुर पैदा हो युद्ध करने लगते थे। अतः उसका वध असम्भव प्रतीत हो रहा था। लड़ते लड़ते शिवा को एक युक्ति सूझी और उन्होंने काली से कहा—"जब मैं रक्तबीज पर अस्त्र-प्रहार करूँ तब तुम उसके शरीर से निकलनेवाली रक्तधारा को पी जाओ। एक बूँद भी पृथ्वी

पर न गिरने पाये"। काली इसके लिये सन्नद्ध हो गईं और तब इस उपाय से रक्तबीज का वध हुआ।

नवासीवाँ अध्याय

रक्तबीज का वध हो जाने पर शुम्भ और निशुम्भ स्वयं दानवों की विशाल सेना लेकर युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण हुये। सर्वप्रथम शुम्भ के अनुज निशुम्भ से देवी का तुमुल युद्ध हुआ। दोनों ओर से अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग हुआ। अन्त में निशुम्भ देवी के हाथ मारा गया।

नब्बेवाँ अध्याय

निशुम्भ की मृत्यु से शुम्भ क्रोध से जल उठा। उसने देवी को फटकारा "तुम दूसरे के सहारे युद्ध करती हो और झूठ ही अपने पराक्रम का दम्भ भरती हो।" यह सुन देवी ने सारी शक्तियों को समेट कर कहा "मूढ़! देख मुझे छोड़ दूसरी कौन स्त्री मेरी ओर से लड़नेवाली है। ये सब तो मेरी ही विभूतियाँ थीं और अब मुझ में ही समा गई हैं। अब मुझ अकेली से लड़ने को तयार हो जा"। इस प्रकार की वार्त्ता के साथ देवी और शुम्भ का भीषण संग्राम आरम्भ हुआ। यह असुरों का अन्तिम संग्राम था। इसमें असुरों की ओर से कोई बात उठा न रखी गई। फलतः यह युद्ध सब से बड़ा और भयंकर हुआ। अन्त में शुम्भ भी अपनी सारी सेना के साथ देवी के हाथ मार डाला गया। उसके मरते ही देवता हर्षोत्फुल्ल हो उठे, गन्धर्वों ने गायन और वादन किया, अप्सराओं ने नृत्य प्रस्तुत किया, पवित्र पवन बहने लगा, सूर्य सुप्रभ हो उठा, अग्नियाँ चमक उठीं और दिशाएँ प्रशान्त हो गईं।

एक्यानबेवाँ अध्याय

इस अध्याय में सर्वप्रथम देवी की उस स्तुति का उल्लेख है जो शुम्भ के वध के पश्चात् देवताओं ने की थी। उस में बताया गया है कि "महामाया ही विपन्न जनों का कष्ट दूर करती हैं। वह जगत् की माता और समस्त चराचर विश्व की ईश्वरी हैं। पृथ्वी, जल, सम्पूर्ण विद्यायें और समस्त स्त्रियाँ उन्हीं के रूप हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और संहार उनकी इच्छा पर निर्भर है। उनकी प्रसन्नता से समस्त दुःखों का और उनके रोष से समस्त अभीष्टों का नाश होता है। उनके आश्रितों को किसी प्रकार की विपत्ति नहीं होती, वे तो दूसरों के आश्रयदाता हो जाते हैं"। उस स्तुति से प्रसन्न हो देवी ने देवताओं को

वरदान देते हुए कहा कि "वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाईसवें युग में शुम्भ और निशुम्भ महान् असुर होकर पुनः उत्पात करेंगे। उस समय मैं नन्द के घर यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हो कर उनका वध करूँगी तथा विन्ध्याचल में मेरा निवास-स्थान होगा। उसके बाद वैप्रचित्त दानवों का जब उपद्रव बढ़ेगा तब मैं अत्यन्त भयंकर रूप में प्रकट हो उनका नाश करूँगी और रक्तदन्तिका नाम से प्रसिद्ध हूँगी। फिर जब पृथ्वी पर सौ वर्ष तक अनावृष्टि होगी और उसे मैं दूर करूँगी तब मेरा शाकम्भरी नाम प्रसिद्ध होगा। उसी समय दुर्ग नाम के महान् राक्षस का वध करने से दुर्गा और मुनिजनों को त्रास देनेवाले दानवों का नाश करने के लिये भीम रूप धारण करने के कारण भीमा नाम से मेरी प्रसिद्धि होगी। जब अरुण नामक महोत्पाती राक्षस का वध करने के लिये भ्रमर का रूप धारण करूँगी तब भ्रामरी नाम से मेरी ख्याति होगी। जब जब भी तुम देवताओं को दानवों से कष्ट पहुँचेगा तब तब मैं अवतार लेकर तुम्हारे शत्रुओं का नाश करूँगी"।

बानवेवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि जो लोग देवताओं द्वारा प्रयुक्त किये गये श्लोकों से देवी की स्तुति करेंगे अथवा मधुकैटभ-वध, महिषासुर-वध तथा शुम्भ, निशुम्भ-वध का कीर्त्तन करेंगे वे पाप, आपत्ति, दरिद्रता, इष्टवियोग, शत्रु, चोर, राजा, शस्त्र, अग्नि तथा जल के भय से मुक्त होंगे। उन्हें ग्रह-पीडा, दुःस्वप्न, तथा उपद्रव न होंगे। उन्हें राक्षस-बाधा, भूत-पिशाच-बाधा तथा प्रेत-बाधा न होगी। वे सब प्रकार के संकटों से मुक्त, सुखी और सब प्रकार से सम्पन्न होंगे। जो लोग पुष्पों और धूप-चन्दन आदि द्वारा उनका पूजन करेंगे उन्हें धन, पुत्र और सद्बुद्धि की प्राप्ति होगी"।

तिरानवेवाँ अध्याय

यह दुर्गा सप्तशती का तेरहवाँ अर्थात् अन्तिम अध्याय है। इसमें बताया गया है कि मेधा ऋषि से महामाया की महिमा और उनकी अवतार-कथायें सुन कर सुरथ और समाधि देवी को प्रसन्न करने के लिये तपस्या करने चले गये। तीन वर्ष की निरन्तर तपस्या से प्रसन्न हो देवी ने उन्हें दर्शन दिया। वर माँगने का आदेश होने पर राजा ने वर्त्तमान और भावी जन्म में स्थायी राज्य तथा समाधि ने उत्तम ज्ञान माँगा। देवी ने कहा "राजन् तुम थोड़े ही दिनों में शत्रुओं को मार कर अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करोगे और मरने पर सूर्य

से जन्म पाकर मनुका पद प्राप्त करोगे तथा सावर्णि नाम से तुम्हारी ख्याति होगी और वैश्य ! तुम भी अपनी इच्छा के अनुसार उत्तम ज्ञान प्राप्त कर परम-सिद्धि से सम्पन्न होगे"।

चौरानबेवाँ अध्याय

इस अध्याय में नवें मनु दक्षपुत्र सावर्णि, दशवें मनु ब्रह्मपुत्र धीमान्, ग्यारहवें मनु धर्मपुत्र सावर्णि, बारहवें मनु रुद्रपुत्र सावर्णि तथा तेरहवें मनु रौच्य के शासन-काल के देवता, इन्द्र, ऋषि, और राजवंशों का उल्लेख किया गया है।

पञ्चानबेवाँ अध्याय

इस अध्याय में तेरहवें मनु रौच्य की जन्म-कथा का उपक्रम किया गया है। इसमें प्रजापति रुचि और पितरों का संवाद बड़ा रोचक है। रुचि को निराश्रम और असङ्ग देख कर पितरों ने उनसे कहा—"वत्स ! तुमने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अच्छा नहीं किया। गृहस्थाश्रम स्वर्ग और मोक्ष का साधन है। मनुष्य गृहस्थाश्रम में रह कर ही देवता, पितर, ऋषि तथा अतिथियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर उत्तम लोकों की प्राप्ति कर सकता है, अन्यथा नहीं"। यह सुन रुचि ने कहा कि "आत्मसंयम ही मोक्ष का साधन है और वह परिग्रह से नहीं सम्पन्न होता किन्तु पूर्ण नियन्त्रण से ही सिद्ध होता है। मनुष्य की आत्मा अनेक जन्म के कर्म-कर्दम से लिप्त है, इन्द्रियों को नियन्त्रित कर सद्वासना रूपी जल से ही उसका प्रक्षालन हो सकता है।" इस पर पितरों ने कहा—"यह बात ठीक है कि आत्मा के शोधनार्थ इंन्द्रियों का नियन्त्रण आवश्यक है पर साथ ही यह भी सत्य है कि देवताओं और पितरों के ऋण से मुक्ति पाये विना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। अतः उचित यह है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान कर उक्त ऋणों से मुक्ति प्राप्त करे और कर्म-फल में आसक्ति का परित्याग कर उनके बन्धनों से बचता रहे। क्योंकि इस युक्ति के विना मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति कथमपि संभव नहीं है"। इस पर रुचि ने कहा कि "वेद में कर्म-मार्ग को अविद्या कहा गया है फिर उस मार्ग पर चल कर मनुष्य विद्यासाध्यमोक्ष की प्राप्ति कैसे कर सकता है"। इस पर फिर पितरों ने कहा—"यह सत्य है कि कर्म अविद्या है पर साथ ही यह

भी सत्य है कि कर्म ही विद्या की प्राप्ति का उपाय है, क्योंकि वेद-विहित कर्म का परित्याग करदेने से मनुष्य का मन मलिन हो जाता है और मलिन मन में विद्या का प्रकाश नहीं फैल सकता। अतः वेदोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से मन का परिष्कार कर के ही मोक्षप्रदा विद्या की प्राप्ति की जा सकती है, अन्यथा नहीं। इस लिये कर्मानुष्ठान का अधिकार प्राप्त करने के निमित्त तुम दारसंग्रह अवश्य करो"। रुचि ने कहा—"मैं वृद्ध और दरिद्र हूँ, मुझे कौन कन्या देगा, अतः मेरे लिये दारसंग्रह सम्भव नहीं है"। पितरों ने कहा—"यदि तुम हमारी बात नहीं मानोगे तो हमारा पतन और तुम्हारी अधोगति निश्चित है"।

छानवेवाँ अध्याय

पितरों के उपदेश से रुचि का मन विवाह करने को उत्सुक हुआ, अब उनके सामने यह समस्या खड़ी हुई कि उन्हें कन्या की प्राप्ति कैसे हो। अपनी वृद्धावस्था और दरिद्रता का विचार कर जब उन्होंने कन्या पाने की सम्भावना न देखी तब तदर्थ ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये सौ वर्ष तक कठोर तपस्या की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उनके प्रयोजन की सिद्धि के लिये उनको पितरों की स्तुति करने की सम्मति दी। फिर रुचि ने भक्तिपूर्वक पितरों की बड़ी उत्तम स्तुति की। इस स्तुति से पितरों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है, स्तुति कण्ठ रखने योग्य है।

सत्तानवेवाँ अध्याय

पितरों की स्तुति करते समय रुचि के सामने एक महान् तेजोराशि प्रकट हुई। उसमें से निकल कर पितरों ने कहा—"तुम्हें अभी यहीं पर एक परम सुन्दरी स्त्री प्राप्त होगी, उससे तुम जिस पुत्र को पैदा करोगे वह मनु होकर अपने वंश का विस्तार करेगा। अध्यायान्त में बताया गया है कि रुचि ने पितरों की जो स्तुति की है, भिन्न-भिन्न अवसरों पर उसका पाठ करने से भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति होगी।

अट्ठानबेवाँ अध्याय

इस अध्याय की कथा यह है कि जिस नदी के किनारे रुचि तपस्या कर रहे थे, पितरों के कथनानुसार उसी नदी से प्रम्लोचा नाम की एक अप्सरा

निकली। उसने अपनी मालिनी नामक रूपवती कन्या के पाणिग्रहण का प्रस्ताव किया। रुचि ने पितरों के वचन का स्मरण कर प्रस्ताव को कार्यान्वित किया। फिर उसी स्त्री से एक पुत्र पैदा हुआ जो रौच्य नामक मनु हुआ। अध्यायान्त में कहा गया है कि इस मन्वन्तर का श्रवण करने पर धर्म, आरोग्य, धन, धान्य और पुत्र की वृद्धि होती है।

निन्नानवेवाँ अध्याय

इस अध्याय में चौदहवें मनु भौत्य के जन्म तथा उस मन्वन्तर के देवता, इन्द्र, सप्तर्षि, और राजवंशों का वर्णन किया गया है जिसका उल्लेख इस निबन्ध में पहले किया जा चुका है। इस अध्याय में ऋषिवर भूति के शिष्य शान्ति के द्वारा की गई अग्नि की स्तुति द्रष्टव्य है। इस स्तुति से अग्नि के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। इस स्तुति के अनुसार अग्नि ही सब प्राणियों का साधक, देवतावों का जीविकाप्रद तथा समस्त जगत् का उत्पादक, पालक और संहारक है। अग्नि ही मेघ का निर्माण कर वर्षा का सम्पादन करता है। वही समस्त खाद्य-पेय पदार्थों तथा सम्पूर्ण औषधि और वनस्पतियों का परिपाक कर उनमें पोषक तत्त्वों का संचय करता है। वही जीवों के जठर में रहकर सब प्रकार के आहारों को पका उन्हें पोषक रस के रूप में परिणत करता है। वही समस्त वैदिक, लौकिक, कर्मों का प्रमुख साधन है। जगत् के पदार्थों में प्राप्त होनेवाला उष्म उसी का रूप है। सूर्य आदि की तेजस्विता और जड़ चेतन वस्तुओं की कान्तिमत्ता उसी का अनुभाव है। समय का सारा विभाग भी उसी पर आश्रित है। काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रपर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वा ये उसकी सात जिह्वायें-ज्वालायें हैं। जिनमें पहली से काल के स्वरूप की निष्पत्ति, दूसरी से महाप्रलय की प्रवृत्ति, तीसरी से लघुता की उपपत्ति, चौथी से कामना की पूर्त्ति, पाँचवी से रोगों की निवृत्ति, छठी से विविध शस्त्रों की उत्पत्ति, और सातवीं से सुख, सुविधा की सृष्टि होती है। वही समुद्र के भीतर रहकर उसे असमय में अतिवेल होने से बचाता है। उसका पराक्रम और महत्त्व असीम है। वह किसी न किसी रूप में सारे संसार में अभिव्याप्त है। उसी से जगत् के समस्त विकारों का दाह होकर कण कण का शोधन होता है। वही सम्पूर्ण विश्व का धारक तत्त्व और समस्त भूतों का जीवन तत्त्व है। ऋषिगण उसे वह्नि, सप्तार्चि, कृशानु, हव्यवाहन, अग्नि, पावक, शुक्र और हुताशन नामों से व्यवहृत करते हैं।

सौवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि शान्ति की स्तुति से प्रसन्न हो जब अग्निदेव प्रकट हुये तो शान्ति ने उनसे दो वर माँगे। एक तो यह की गुरुदेव की अग्निशाला में अग्नि पूर्ववत् प्रज्वलित हो उठे और दूसरा यह कि उन्हें उत्तम पुत्र की प्राप्ति हो और उनके चित्त में उस पुत्र के प्रति जैसा स्नेह और जैसी मृदुता हो वैसा ही स्नेह, वैसी ही मृदुता अन्य भूतों के प्रति भी हो। अग्निदेव की कृपा से उसके ये दोनों मनोरथ पूर्ण हुये। लौटने पर गुरुदेव को जब सब बातें ज्ञात हुईं तब उन्होंने प्रसन्न हो उसे अपनी समस्त विद्यायें प्रदान कीं। इस प्रकार महर्षि भूति को प्राप्त हुआ पुत्र ही भौत्य नाम से प्रसिद्ध चौदहवाँ मनु है। अध्यायान्त में मन्वन्तरों के श्रवण का फल बताते हुये कहा गया है कि स्वायम्भुव मन्वन्तर के श्रवण से धर्म-प्राप्ति स्वारोचिष मन्वन्तर के श्रवण से कामना-पूर्त्ति, औत्तम मन्वन्तर के श्रवण से धन, तामस मन्वन्तर के श्रवण से ज्ञान, रैवत मन्वन्तर के श्रवण से उत्कृष्ट बुद्धि एवं सुन्दरी स्त्री, चाक्षुष मन्वन्तर के श्रवण से आरोग्य, वैवस्वत मन्वन्तर के श्रवण से बल, सूर्य सावर्णिक के श्रवण से गुणवान् सन्तान, ब्रह्म सावर्णिक के श्रवण से महत्ता, धर्म सावर्णिक के श्रवण से कल्याण बुद्धि, रुद्र सावर्णिक के श्रवण से विजय, दक्ष सावर्णिक के श्रवण से श्रेष्ठ पुत्र और उत्कृष्ट गुण, रौच्य मन्वन्तर के श्रवण से शत्रुनाश और भौत्य मन्वन्तर के श्रवण से देवताओं की कृपा की प्राप्ति होती है।

१०१,१०२,१०३ अध्याय

इन अध्यायों में बताया गया है कि पहले यह सम्पूर्ण लोक प्रकाशहीन, एवं अन्धकारमय था। सर्वप्रथम इसमें एक बृहत् अण्ड प्रकट हुआ, उसके भीतर बैठे हुये लोक स्रष्टा ब्रह्मा जी ने उसका भेदन किया भेदन होते ही उनके मुख से पहले परम तेजस्वी 'ॐ' यह महान् शब्द प्रकट हुआ, और फिर उसी समय क्रम से उनके पूर्व मुख से ऋक्, दक्षिण मुख से यजुः पश्चिममुख से साम और उत्तरमुख से अथर्ववेद का प्राकट्य हुआ। ये सब भी तेजोमय थे। तत्पश्चात् ओङ्कार अर्थात् प्रणव का महान् तेज और चारों वेदों का तेज मिलकर एक महान् तेजःपुञ्ज बन गया जो सब के आदि में होने से आदित्य कहलाया। यह आदित्य ही सूर्यदेव का आद्यमूर्त्त रूप है। इसका तेज इतना प्रचण्ड था कि जो भी वस्तु उस समय ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न होती थी वह सद्यः इसकी आंच से भस्म हो जाती थी। इस सङ्कट को दूर करने के निमित्त

ब्रह्माजी ने चिरकाल तक सूर्य की स्तुति की जिससे प्रसन्न हो सूर्यदेव ने अपना तेज समेट लिया। और तब ब्रह्माजी के लिये इस सृष्टि का उत्पादन सम्भव हुआ। ये अध्याय बड़े उत्तम हैं इनके अध्ययन से सृष्टि-आरम्भ के समय की अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है।

एक सौ चौथा अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि ब्रह्माजी के मरीचि नामक पुत्र के पुत्र कश्यप दक्षप्रजापति की तेरह कन्याओं के पति हुये। उनमें अदिति से देवता, दिति से दैत्य, दानु से दानव, विनता से गरुड़ और अरुण, खसा से यक्ष और राक्षस, कद्रू से नाग, मुनि से गन्धर्व, क्रोधा से कुल्योंप, अरिष्ठा से अप्सरायें, इरा से ऐरावत आदि हाथी, ताम्रा से श्येन, भास, शुक आदि पक्षियों को जन्म देनेवाली श्येनी आदि कन्यायें, इला से वृक्ष तथा प्रधा से जलजन्तु उत्पन्न हुये। ब्रह्माजी ने ज्येष्ठता के कारण देवताओं को यज्ञभाग का भोक्ता और त्रिभुवन का स्वामी बनाया। इस बात से अप्रसन्न हो दैत्य और दानवों ने देवताओं से लड़ाई छेड़ दी। सहस्र वर्ष तक उनका परस्पर युद्ध चलता रहा अन्त में देवताओं को पराजित कर दैत्य और दानवों ने विजय प्राप्त की। देवताओं को पराजित और अधिकारच्युत देखकर उनकी माता अदिति को बड़ा शोक हुआ और उन्होंने अपने पुत्रों को विजयी बनाने की कामना से सूर्यदेव की आराधना आरम्भ की। बहुत दिन बीत जाने पर सूर्यदेव ने आकाश में अपने तेजोमय रूप को प्रकट किया। पर अदिति की आँखें उन्हें यथावत् देखसकने में समर्थ न हुईं तब फिर उन्होंने ऐसे सौम्यरूप में प्रकट होने की प्रार्थना की जिससे वे उनका दर्शन कर सकें।

एक सौ पाँचवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि अदिति की प्रार्थना पर सूर्यदेव ने अपना परमकान्तिमय, सौम्यरूप प्रकट किया जिसे देखकर वे प्रसन्न हो सूर्यदेव के चरणों पर गिर पड़ीं। सूर्यदेव ने वर माँगने का आदेश दिया। अदिति ने प्रार्थना की--"आप दैत्यों से पराजित मेरे पुत्रों को विजयी बनाने के लिये मेरे पुत्र के रूप में प्रादुर्भूत हों"। सूर्यदेव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर सुषुम्ना नामक अपनी सहस्र किरणों की समष्टि से उनके गर्भ में प्रवेश किया। कुछ दिन बाद सूर्यदेव अदिति के गर्भ से प्रकट होकर मार्तण्ड नाम से ख्यात हुये। तत्पश्चात् देवताओं

ने दैत्यों और दानवों पर आक्रमण किया और उनमें तुमुल युद्ध ठन गया। इस युद्ध में मार्तण्ड ने अपनी दाहक किरणों का प्रयोग किया जिससे समस्त दैत्य तथा दानव जल गये और देवताओं को उनके खोये हुए सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हुये।

एक सौ छ:वाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि मार्तण्ड ने इस देवदानव-संग्राम में जो अलौकिक सामर्थ्य प्रदर्शित किया उससे प्रसन्न हो प्रजापति विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री संज्ञा का उनसे विवाह कर दिया। उससे मार्तण्ड ने दो पुत्र और एक कन्या उत्पन्न की जिनका क्रम से वैवस्वत, यम और यमुना नाम पड़ा। संज्ञा सूर्यदेव का तेज सहन करने में असमर्थ होकर अपने स्थान में अपनी छाया को रख कर पिता के घर चली गयी। पिता के घर कुछ दिन बिताकर वह कुरुदेश गयी और वहाँ अश्वा के रूप में अपने को छिपा कर तपस्या करने लगी। इधर छायासंज्ञा ने सूर्यदेव के सम्पर्क से सावर्णि और शनैश्चर नाम के दो पुत्र तथा तपती नाम की एक कन्या उत्पन्न की। कुछ दिन बाद छाया के पुत्र यम और उसकी विमाता छायासंज्ञा के बीच वैमनस्य होने पर जब सूर्यदेव को यह सब रहस्य ज्ञात हुआ तब वे संज्ञा की खोज में निकले। उनके श्वशुर विश्वकर्मा से उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी पत्नी छाया उनके तेज को सहने में असमर्थ होने के कारण उनके शरीर में सौम्य, सहनीय एवं कमनीय रूप प्रकट करने के उद्देश्य से कुरुदेश में तपस्या कर रही है। यह सुन सूर्यदेव ने उनसे कहा—"यदि ऐसी बात है तो आप कृपा कर मेरे तेज की उग्रता निकाल देने का कोई यत्न कीजिये"। विश्वकर्मा ने उनकी बात मानकर उन्हें यन्त्र पर चढ़ा दिया और उनके तेज की छटनी कर उनके शरीर को सौम्य, सह्य और सुन्दर बना दिया।

एक सौ सातवाँ अध्याय

इस अध्याय में सूर्य के तेज:शातन के समय विश्वकर्मा ने उनकी जो स्तुति की थी उसका उल्लेख है। स्तुति बड़ी गम्भीर तथा सुन्दर है।

एक सौ आठवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि जब विश्वकर्मा ने सूर्यदेव के तेज की छटनी कर उन्हें सौम्य बना दिया तब कुरुदेश में जाकर अश्व के रूप में हो उन्होंने अश्वा रूप में स्थित अपनी पत्नी से मिलने की चेष्टा की। इस चेष्टा के फलस्वरूप अश्वा की नासिका में सूर्यदेव के तेज

का प्रवेश होने से अश्विनी कुमारों की तथा पृथ्वी पर गिरे रेतस् से रेवन्त की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् दोनों ने अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर परम आनन्द प्राप्त किया। सूर्यदेव ने संज्ञा, छायासंज्ञा तथा अश्वारूपिणी संज्ञा से उत्पन्न हुई अपनी सभी सन्तानों के लिये स्थान और अधिकार की अलग अलग व्यवस्था कर दी।

एक सौ नववाँ अध्याय

इस अध्याय में सूर्य देव की महिमा के प्रसंग में एक मनोरम कथा अङ्कित की गई है जो इस प्रकार है—

पूर्वकाल में दम के पुत्र राज्य-वर्धन बड़े विख्यात राजा थे, वे धर्मपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। उनके राज्य में धन-जन की अहर्निश वृद्धि होती थी। सारी प्रजा स्वस्थ, सुप्रसन्न, सम्पन्न और सादर थी। रोग, उत्पात, अकाल आदि का कोई भय न था। दक्षिण देश के राजा विदूरथ की पुत्री मानिनी उनकी पत्नी थी। एक दिन राजा के शिर में तेल लगाते समय वह एकाएक रो पड़ी। रोने का कारण पूछने पर उसने राजा के काले केश समूह में एक पके हुये बाल को अपने दुःख का कारण बताया। तब राजा ने हँसते हुये कहा—"प्रिये तुम्हारा शोक और रुदन अनुचित है। जन्म, वृद्धि और परिणाम—ये समस्त देहधारियों के स्वाभाविक विकार हैं। मैंने तो समस्त वेद विद्याओं का अध्ययन किया, सहस्रों यज्ञ किये, तुम्हारे साथ अनेकानेक उत्तमोत्तम भोग भोगे, अनेकों पुत्र पैदा किये, सात सहस्र वर्ष तक सुन्दर शासन द्वारा प्रजाको सुखी और स्वस्थ रक्खा। इस समय बाल का पकना बड़े भाग्य की बात है। इससे वानप्रस्थ में प्रवेशकर वह श्रेष्ठ तप करने की प्रेरणा मिलती है जिस पर मानव-जन्म की चरितार्थता निर्भर है। अपने अन्य पार्श्ववर्ती जनों को सम्बोधित कर राजा ने कहा—"भाइयो! यह पका बाल क्रूरकर्मा मृत्यु का दूत है जो यह सन्देश सुना रहा है कि यमराज के सैनिक मुझ पर आक्रमण करनेका विचार कर रहे हैं, अतः मुझे राज्यशासन का दायित्व पुत्रों को सौप कर विषयभोग से निवृत्त हो वन का आश्रय लेना चाहिये"। राजा की बात सुनकर सारी प्रजा आकुल हो उठी और राजा से प्रार्थना करने लगी कि वे वनगमन का विचार न करें अपितु पहले की भाँति ही पृथ्वी का शासन करते रहें। उस समय सब लोगों ने यह निश्चय किया कि राजा की आयु बढ़ाने के लिये सूर्यदेव की सामूहिक आराधना की जाय। इस निश्चय के अनुसार सुदामा नामक गन्धर्व की सम्मति

से कामरूप पर्वत पर जा कर वे लोग सूर्यदेव की नियमपूर्वक आराधना में लग गये। तीन मास की अविच्छिन्न आराधना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव ने उनलोगों को दर्शन दिया।

एक सौ दसवाँ अध्याय

सूर्यदेवने वर मांगने का संकेत किया। तब प्रजाजनों ने यह वर मांगा कि राजा राज्यवर्धन का जीवन दश सहस्र और बढ़जाय तथा वे अपनी आयु भर नीरोग, शत्रुरहित, सुकेश और युवा बने रहें। सूर्यदेव ने 'तथाऽस्तु' कह कर अपने आप को अन्तर्हित कर लिया। प्रजाजनों ने राजधानी में आकर जब यह शुभ समाचार राजा और रानी को सुनाया तब रानी तो बहुत प्रसन्न हुई पर राजा चिन्तामग्न हो गये। चिन्ता का कारण पूछे जाने पर राजा ने कहा—"मैं इस बात से चिन्तित हूँ कि मैं अकेला तो दश सहस्र वर्ष तक जीवित रहूँगा पर मेरे स्वजन और प्रजाजन बीच-बीच में यमराज के अतिथि होते रहेंगे और इस प्रकार मुझे बहुत लम्बे समयतक इष्टवियोग का दुःख भोगना पड़ेगा"। राजा ने फिर कहा—"भाइयों! यह निश्चय समझो कि दश सहस्र वर्षों की मेरी आयु मुझे तभी अच्छी लगेगी जब मेरे सभी स्वजनों और प्रजाजनों की भी वही आयु होगी। इस लिये मैं सोचता हूँ कि सर्वप्रथम मुझे इसी बात के लिये प्रयत्न करना चाहिये"। इतना कहकर राजा रानी को साथ ले उसी कामरूप पर्वत पर जा सूर्यदेव की आराधना करने लगे। एक वर्ष तक निरन्तर आराधना चलती रही। अन्त में सूर्यदेव की कृपा से राजा के स्वजनों और प्रजाजनों को भी दश सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त होगई। तब राजा रानी-सहित अपनी राजधानी में लौटे और दश सहस्र वर्ष तक पुनः धर्मपूर्वक प्रजा का पालन किये।

इस कथा से राजा और प्रजा की परस्परानुरक्ति और पारस्परिक हितैषिता का सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है॥

एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय

इस अध्याय में बताया गया है कि वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, नरिष्यन्त, नाभाग, पृषध्र और धृष्ट—ये सात पुत्र थे। यद्यपि ये सभी पुत्र बड़े योग्य थे फिर भी इन सबों से भी श्रेष्ठ एक और पुत्र के निमित्त उन्होंने मित्रा-वरुण नामक यज्ञ किया। यज्ञ में कुछ अविधि हो जाने से पुत्र के बदले एक पुत्री पैदा हुई जिसका नाम इला पड़ा। मनु के प्रार्थना करने पर मित्र और

वरुण ने उस पुत्री को ही पुत्र बना दिया जो सुद्युम्न नाम से ख्यात हुआ। एक दिन वन में शिकार खेलते समय उससे कुछ अपराध हो गया जिससे महादेव जी को क्रोध आ गया। उस क्रोध के फलस्वरूप सुद्युम्न को पुनः स्त्री हो जाना पड़ा। उस समय चन्द्रमा के पुत्र बुध ने उससे एक पुत्र पैदा किया जिसका नाम पुरुरवा रक्खा गया। तत्पश्चात् अश्वमेध यज्ञ करके सुद्युम्न ने पुनः पुरुषत्व प्राप्त कर लिया। फिर उसके उत्कल, विनय और गय नाम के तीन पुत्र पैदा हुये। सुद्युम्न के स्त्री रूप में बुध से पैदा होने के कारण पुरुरवा को राज्य का भाग नहीं मिला किन्तु वशिष्ठ जी की सम्मति से उसे प्रतिष्ठान नामक उत्तम नगर दे दिया गया।

एक सौ बारहवाँ अध्याय

इस अध्याय की कथा इस प्रकार है—

वैवस्वत मनु का पुत्र पृषध्र एक दिन मृगया के लिये जंगल गया। वहाँ एक अग्निहोत्री ब्राह्मण की गौ को गवय समझ कर उसने मार दिया। तब उस गौ की रक्षा में नियुक्त ब्राह्मण पुत्र बाभ्रव्य ने पृषध्र को शूद्र हो जाने का शाप दे दिया। शाप से राजा को क्रोध आ गया। वह भी ब्राह्मणपुत्र को शाप देने के लिये प्रस्तुत हुआ। इस पर ब्राह्मणपुत्र राजा का नाश करने के लिये दूसरा शाप देने को प्रवृत्त हुआ। उसी समय उसका पिता पहुँच गया और उसे शाप देने से विरत करते हुये कहा कि ब्राह्मण का भूषण क्षमा है न कि क्रोध। क्रोध से तो धर्म, अर्थ और काम इन सब की हानि होती है। दूसरी बात यह है कि यदि राजा ने इसे जान कर मारा हो तब भी अपने हित का विचार कर हमें राजा पर दया करनी चाहिये और यदि उसने अनजान में मारा हो तब तो उसका कोई अपराध ही नहीं है। और सच्ची बात तो यह है कि वह गौ अपनी आयु समाप्त कर अपने कर्म से मरी है, अतः राजा कथमपि शाप का पात्र नहीं है"। यह सुन ब्राह्मणपुत्र दूसरा शाप देने से विरत हो गया, पर पहले शाप के कारण पृषध्र को शूद्र होना पड़ा।

एक सौ तेरहवाँ अध्याय

इस अध्याय की कथा यह है कि—

पूर्व काल में दिष्ट नाम के एक राजा थे, उनके नाभाग नाम का एक पुत्र था, उसने यौवन के आरम्भ में एक परम सुन्दरी वैश्य कन्या को देखा।

उसके रूप-लावण्य से मुग्ध हो राजपुत्र ने उसके पिता से उसकी याचना की। राजा की अनुमति के विना वैश्य को ऐसा करने का साहस न हुआ। उसने राजा से कहा—"राजन्! राजकुमार मेरी कन्या से विवाह करना चाहते हैं, यदि आपकी अनुमति हो तो ऐसा किया जाय"। राजा ने क्षत्रियेतर कन्या से प्रथम विवाह की अनुमति न दी। तब राजकुमार बलपूर्वक उससे राक्षस विवाह करने को उद्यत हुआ। वैश्य ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। फलतः राजा और राजकुमार में युद्ध ठन गया। फिर आकाश से उतरकर एक परिव्राजक ने राजा से कहा "राजन्! आपका यह पुत्र वैश्यतनया में आसक्त होने के कारण धर्मभ्रष्ट और पतित हो गया है, यह क्षत्रिय से युद्ध करने का अधिकारी नहीं है, अतः आप युद्ध बन्द कर दें।

एक सौ चौदहवाँ अध्याय

जब राजा ने युद्ध बन्द कर दिया तब राजकुमार ने वैश्य-कन्या से विवाह कर राजा के निकट अपने कर्तव्य का निर्देश करने की प्रार्थना की। राजा ने उसे धर्मोपदेष्टा बाभ्रव्य आदि तपस्वी ब्राह्मणों के समीप भेज दिया। उन लोगों ने पशु-पालन, कृषि तथा वाणिज्य को उसका धर्म बताया। थोड़े दिन बाद उसे भनन्दन नाम का एक पुत्र पैदा हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब हिमालय पर्वत पर तप करते हुये राजर्षि से उसने सम्पूर्ण अस्त्रविद्या सीखी और फिर अपने चचेरे भाई वसुरात आदि से राज्य का आधा भाग माँगा। उन लोगों ने वैश्यपुत्र कह कर उसे राज्य का अनधिकारी बताया तथा राज्य का कुछ भी भाग देना स्वीकार न किया। तब उसने उन लोगों से युद्ध छेड़कर उन्हें पराजित कर राज्य से पृथक् कर दिया और सारा राज्य पिता को अर्पित किया। पिता ने अपने को वैश्य बताते हुये राज्य का अनधिकारी बता उसे स्वीकार न किया। तब उसकी पत्नी ने कहा—"आप राज्य स्वीकार कर लें, अपने को राज्य का अनधिकारी न समझें, कारण कि न आप वैश्य हैं और न मैं वैश्य-कन्या हूँ। वस्तुस्थिति कुछ और ही है, और वह यह कि पूर्व काल में सुदेव नाम के एक क्षत्रिय राजा थे, एक दिन वे वसन्त ऋतु में स्त्रियों के साथ विहार करने के निमित्त आम्रवन में गये, साथ में उनका मित्र नल भी था। नल ने मद्य-पान से उन्मत्त हो च्यवन मुनि की पुत्रवधू के साथ बलात्कार करने की चेष्टा की। इस बात को देख उसके पति प्रमति ने उसकी रक्षा करने के लिये राजा के क्षत्रियत्व को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया। पर राजा अपने को वैश्य

कह कर क्षत्रिय के कर्तव्य-पालन से विमुख हो गया। इससे क्रुद्ध हो प्रमति ने राजा को वैश्य हो जाने का शाप दे दिया।

एक सौ पन्द्रहवाँ अध्याय

राजा को शाप देने के पश्चात् प्रमति ने उसके उन्मत्त मित्र नल को भी शाप दिया जिससे वह तत्काल ही जल कर राख हो गया। इस घटना को देख त्रस्त होकर राजा ने प्रमति से क्षमा माँगी। तब प्रमति ने कहा—"मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता, वैश्य तो तुम को होना ही पड़ेगा। हाँ, जब कोई क्षत्रिय तुम्हारी कन्या को बलात् ग्रहण करेगा तब उसी समय तुम पुनः क्षत्रियत्व प्राप्त कर लोगे। शाप के वश वैश्यत्व को प्राप्त हुये वही क्षत्रिय राजा सुदेव मेरे पिता हैं। यह तो हुई मेरे पिता की बात। अब मेरी भी बात सुनिये। प्राचीन काल में गन्धमादन पर्वत पर राजर्षि सुरथ तपस्या करते थे। एक दिन उनके सामने ही बाज के मुख से छूटकर एक शारिका गिरी और मूर्च्छित हो गयी। तपस्वी राजर्षि के मन में उसके प्रति कृपा का भाव आ गया। जब उसकी मूर्च्छा नष्ट हुयी तब उसके शरीर से मेरा जन्म हुआ और मेरा नाम कृपावती रखा गया। एक दिन अगस्त्य मुनि के परम तपस्वी भ्राता वहाँ आये। उन्हें मेरी सखियों ने वैश्य कह कर चिढ़ा दिया। इससे रुष्ट हो उन्होंने सखियों तथा मुझको वैश्य कुल में पैदा होने का शाप दे दिया। जब मैंने अपनी निरपराधता बताकर उनसे क्षमा माँगी तब उन्होंने कहा—"सत्य है, तुम्हारा दोष नहीं है। अपनी दुष्टा सखियों के कारण तुमने यह शाप पाया है। अतः तुम शीघ्र ही इससे छुटकारा पा जावोगी। वैश्ययोनि में जब तुम राज्य के लिये अपने पुत्र को प्रबोधन करोगी तब तुम्हें अपनी पूर्व जाति का स्मरण हो जायगा और उसी जन्म में क्षत्रिय होकर पति के साथ दिव्य भोग प्राप्त करोगी"। तो इस प्रकार जब न मेरे पिता वैश्य हैं और न मैं वैश्य हूँ तब मेरे सम्पर्क से अन्य लोग वैश्य कैसे हो सकते हैं ?"

एक सौ सोलहवाँ अध्याय

इस अध्याय की कथा यह है कि नाभाग ने अपनी पत्नी से उपर्युक्त सारा वृत्तान्त सुन लेने पर भी राज्य को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा—"मैंने पिता की आज्ञा से राज्य का परित्याग किया है अतः उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता"। तब भनन्दन ने स्वयं ही राज्य को स्वीकार किया और विवाह करके

गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता हुआ वह धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। कुछ दिन बाद उसके एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम वत्सप्री रक्खा गया। उसका विवाह राजा विदूरथ की कन्या मुदावती से, जिसका दूसरा नाम सुनन्दा था, हुआ। इस विवाह की कथा बड़ी रोचक है यथा—

इस पृथ्वी पर विदूरथ नाम के एक बड़े प्रतापी एवं यशस्वी राजा थे। उनके सुनीति और सुमति नाम के दो पुत्र तथा मुदावती नाम की एक कन्या थी। एक दिन वे शिकार खेलने जंगल गये। वहाँ उन्होंने एक बड़ा गहरा गर्त देखा। उसे देख वे विस्मित हो रहे थे कि इतने ही में वहाँ सुव्रत नाम के एक तपस्वी आ गये। उनसे राजा ने उस गर्त के बारे में पूछा। तपस्वी ने कहा—"खेद है कि तुम राजा होकर इस बात को नहीं जानते, राजा को तो अपने राज्य के कण-कण की जानकारी रखनी चाहिये।" इतना कह कर तपस्वी ने बताया कि "पाताल में एक कुजृम्भ नाम का राक्षस है, उसके पास सुनन्द नाम का एक बड़ा प्रबल मूसल है। उससे बड़े बड़े बलवानों तथा बड़ी-बड़ी सेनाओं का संहार किया जा सकता है। उसका यह स्वभाव है कि जिस दिन उसे कोई स्त्री छू देती है उस दिन वह दुर्बल हो जाता है पर दूसरे दिन वह पुनः पूर्ववत् बलवान् हो जाता है। कुजृम्भ को मूसल के इस स्वभाव का ज्ञान नहीं है। वह उसे सर्वथा बलवान् ही समझता है और उसी से अपने शत्रुओं का संहार करता है। उसी मूसल से पृथ्वी को तोड़कर राक्षसों के यातायात के लिये उसने यह गर्त बनाया है।" राजा ने लौट कर अपनी सन्तानों और मन्त्रियों को उस मूसल तथा उस गर्त की बात बतायी। एक दिन कुजृम्भ उस गर्त से आया और राजकन्या को चुरा ले गया। राजा ने राक्षस को मार कर कन्या को ले आने के निमित्त अपनी सेना तथा अपने पुत्रों को भेजा। कुजृम्भ ने तुमुल युद्ध कर सारी सेना का संहार कर दिया और राजाओं को बन्दी बना लिया। तब राजा ने घोषणा करवायी कि जो पुरुष उनकी सन्तानों का उद्धार करेगा उससे वे अपनी कन्या का विवाह कर देंगे। घोषणा सुनकर वत्सप्री राजा के निकट गया और उनकी आज्ञा प्राप्त कर एक बड़ी सेना साथ में ले उसी गर्त के रास्ते कुजृम्भ की नगरी में पहुँच कर उसे युद्ध के लिये ललकारा। फिर वत्सप्री और उसकी सेना का कुजृम्भ तथा उसकी सेना के साथ विकट युद्ध हुआ। वत्सप्री द्वारा अपनी सेना का तेजी से संहार होता हुआ देखकर वह मूसल लाने के निमित्त दौड़ता हुआ अन्तःपुर में गया किन्तु मुदावती ने मूसल को छूकर पहले ही से दुर्बल कर रक्खा था। अतः मूसल

का प्रयोग करके भी राक्षस कुछ न कर सका। जब मूसल का प्रयोग विफल हो गया तब उसने अन्यान्य अस्त्रों का प्रयोग करके युद्ध किया। पर अन्त में वत्सप्री ने आग्नेय अस्त्र के प्रहार से उसे मृत्यु का कवल बना दिया। तदनन्तर वत्सप्री ने राजा विदूरथ की सन्तानों को मुक्त कर उन्हें राजा के समक्ष ला खड़ा किया। राजा ने प्रसन्न हो अपनी पूर्व घोषणा के अनुसार वत्सप्री के साथ अपनी कन्या मुदावती का विवाह कर दिया। कुछ काल के बाद उसके पिता भनन्दन ने उसे राज्यासन पर अभिषिक्त किया और स्वयं तपस्या के हेतु जंगल चला गया।

एक सौ सत्रहवाँ अध्याय

सुनन्दा—मुदावती ने बारह पुत्र उत्पन्न किये जिनमें ज्येष्ठ पुत्र प्रांशु को राज्याधिकार प्राप्त हुआ और शेष ग्यारह उसके वशवर्ती हो कर प्रेमपूर्वक रहने लगे। प्रांशु के पांच पुत्र पैदा हुए—खनित्र, शौरि, उदावसु, सुनभ और महारथ। इनमें ज्येष्ठ होने के कारण खनित्र ही पृथ्वी का राजा हुआ, इसकी यह लालसा थी कि—

नन्दन्तु सर्वभूतानि स्निह्यन्तु विजनेष्वपि।
स्वस्त्यस्तु सर्वभूतेषु निरातङ्कानि सन्तु च ॥ १२ ॥
मा व्याधिरस्तु भूतानामाधयो न भवन्तु च।
मैत्रीमशेषभूतानि पुष्यन्तु सकले जने ॥ १३ ॥
शिवमस्तु द्विजातीनां प्रीतिरस्तु परस्परम्।
समृद्धिः सर्ववर्णानां सिद्धिरस्तु च कर्मणाम् ॥ १४ ॥

सब प्राणी सुखी हों और अन्यजनों में भी स्नेह रक्खें; सब जीवों का कल्याण हो तथा उन्हें किसी प्रकार का कोई आतङ्क न हो ॥१२॥ प्राणियों को कोई शारीरिक रोग तथा मानसिक चिन्ता न हो; सब लोग सब के मित्र हों ॥१३॥ ब्राह्मणों का कल्याण हो तथा उनमें परस्पर प्रीति हो; सब वर्ण समृद्ध और सफलकर्मा हों ॥१४॥

प्रजावर्ग को इसकी शिक्षा थी कि—

हे लोकाः! सर्वभूतेषु शिवा वोऽस्तु सदा मतिः।
यथाऽऽत्मनि तथा पुत्रे हितमिच्छथ सर्वदा ॥ १५ ॥
तथा समस्तभूतेषु वर्तध्वं हितबुद्धयः।
एतद्वो हितमत्यन्तं को वा कस्यापराध्यति? ॥ १६ ॥

यत्करोत्यहितं किञ्चित्कस्यचिन्मूढमानसः।
तं समभ्येति तन्नूनं कर्तृगामि फलं यतः॥ १७॥
इति मत्वा समस्तेषु भो लोकाः ? कृतबुद्धयः।
सन्तु, मा लौकिकं पापं, लोकान् प्राप्स्यथ वै बुधाः ?॥ १८॥

प्रजाजनों ! तुम्हारी बुद्धि सब प्राणियों में कल्याणमयी हो। जिस प्रकार अपना और अपने पुत्र का हित चाहते हो उसी प्रकार सब प्राणियों के लिये हित बुद्धि रक्खो। ऐसा करने से तुम्हारा अधिक हित होगा, क्योंकि जब सब लोग एक दूसरे के हितेच्छु होंगे तब कोई किसी के प्रति अपराध न करेगा ॥१५,१६॥ यदि कोई मूढ़चित्त मनुष्य किसी का कुछ अहित करेगा तो उसका परिणाम उसी को प्राप्त होगा, क्योंकि क्रिया का फल नियमेन कर्तृगामी होता है ॥१७॥ प्रजाजनों ! यदि इस तथ्य को समझ कर तुम लोग परस्पर में हितबुद्धि रक्खोगे तो कोई भी सांसारिक बुराई न होगी और तुम सब लोग उत्तम लोकों को प्राप्त करोगे ॥१८॥

इसने प्रजाजनों को बताया कि अपने विषय में तो मेरी यह अभिलाषा है—

यो मेऽद्य स्निह्यते तस्य शिवमस्तु सदा भुवि।
यश्च मां द्वेष्टि लोकेऽस्मिन् सोऽपि भद्राणि पश्यतु॥ १९॥

जो मुझ से आज स्नेह करता है, मैं चाहता हूँ कि उसका सदैव कल्याण हो, और जो मुझसे द्वेष करता है, मैं चाहता हूँ कि उसका भी इस संसार में सर्वदा मङ्गल हो॥

राजा खनित्र का अपने भाइयों से बड़ा स्नेह था अतः उसने उन लोगों को भिन्न-भिन्न राज्यों का अधिपति बना दिया तथा उनके अलग-अलग मन्त्री और पुरोहित रख दिये। कुछ दिन बाद खनित्र के अनुज शौरि के मन्त्री विश्ववेदी ने शौरिको सम्मति दी कि वह अपने अन्य भाइयों का सहयोग प्राप्त कर खनित्र पर आक्रमण करे और उसे पराजित कर स्वयं समस्त पृथ्वी का राजा बने। यदि वह ऐसा न करेगा तो जिस छोटे से राज्य का वह अधिपति है वह उसके पुत्र-पौत्रों में बँट कर क्षीण हो जायगा और अन्त में उसके वंशजों को कृषक का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। शौरि ने यह कह कर उसकी सम्मति न मानी कि जब हम पांच भाई हैं तो सबके सब किस प्रकार सारी पृथ्वी के राजा हो सकते हैं, अतः यह उचित ही हुआ है कि ज्येष्ठ भाई सारी पृथ्वी के अधिपति हैं और हम चारो अनुज उनके अधीनस्थ राजा हैं। उसका

यह विचार सुनने के बाद भी विश्ववेदी ने उसको खनित्र के विरुद्ध उसकाने का तथा समस्त पृथ्वी के साम्राज्य के प्रति उसका मन लुभाने का प्रयत्न करता ही रहा। अन्त में उसकी मूकसम्मति जान कर उसने उसके भाइयों को मिला लिया और चारों के पुरोहितों से खनित्र का नाश कराने के लिये आभिचारिक प्रयोग कराने लगा। आभिचारिक कर्म के पूरा होते ही चार कृत्यायें उत्पन्न हुईं और वे खनित्र का वध करने उसके निकट गईं, पर उसके महान् पुण्य से हतशक्ति हो उसका कुछ न कर सकीं। तब लौटकर उन सबों ने चारो पुरोहितों और उनके प्रेरक विश्ववेदी पर आक्रमण किया और उन सबों को एक साथ ही मार डाला।

एक सौ अठारहवां अध्याय

जब खनित्र को यह घटना ज्ञात हुई तो वह बड़ा विषण्ण और विस्मित हुआ, उसने इसका रहस्य वशिष्ठ मुनि से पूछा, उसे वशिष्ठ मुनि ने सारा रहस्य बताया। तब उसने सोचा कि "चारो पुरोहितों तथा मन्त्री विश्ववेदी के विनाशका कारण मैं ही हूँ, क्यों कि यदि मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट न होता तो मेरे प्रति इन लोगों ने यह षड्यन्त्र न रचा होता और यदि यह षड्यन्त्र न रचा गया होता तो इन सबों की यह अकालमृत्यु क्यों होती ?। अतः इस साम्राज्यको और मुझको धिक्कार है।" इस प्रकार इस घटना से खनित्र को बड़ा उद्वेग हुआ और वह अपने पुत्र क्षुप को राज्यासन पर अभिषिक्त कर स्वयं पत्नी को साथ ले तपस्या करने के हेतु जंगल चला गया॥

एक सौ उन्नीसवां अध्याय

खनित्र के पुत्र क्षुप ने ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मा के पुत्र क्षुप का उदात्त चरित्र सुनकर उन्हीं के समान उत्तमोत्तम कार्य करने की प्रतिज्ञा की। अकाल पड़ने पर वह बड़े-बड़े यज्ञ कर प्रजा का दुःख दूर करता था। कर से प्राप्त होने वाला सारा द्रव्य तथा राज्यकोष का अतिरिक्त धन वह ब्राह्मणों के सत्कार और प्रजा के हित में व्यय करता था। उसने अपनी पत्नी प्रमथा से वीर नामक एक प्रतापी पुत्र पैदा किया जिसका विवाह विदर्भदेशके नरेश की कन्या नन्दिनी से हुआ। वीर और नन्दिनी से एक विविंश नाम का महाप्रतापी पुत्र पैदा हुआ। उसके शासन-काल में समस्त प्रजा अत्यन्त सुखी, शान्त और समुन्नत थी। उसके राज्य में कभी दुर्भिक्ष तथा किसी प्रकार का कोई उपद्रव नहीं हुआ।

खाद्य-पेयकी सामग्री सदैव विपुल रही। सारी प्रजा सम्पन्न तथा अनुशासित थी। किसी को किसी प्रकार का कोई भय न था॥

एक सौ बीसवां अध्याय

विविंश के बाद उसका पुत्र खनीनेत्र राजा हुआ। उसने दश सहस्र यज्ञ करके सम्पूर्ण पृथ्वी का दान कर दिया और फिर तपस्या द्वारा विपुल धनराशि प्राप्त कर पृथ्वी को पुनः खरीद लिया। इस प्रकार समस्त ब्राह्मण धनवान् हो गये और राजा का राज्य भी बना रहा। इस महाधार्मिक राजा के कोई पुत्र न था। एक दिन वह शिकार खेलने जंगल गया था। उस समय एक मृग उसके सामने आकर बोला—"राजन्! मुझे मार कर अपना इष्टसाधन कीजिये।" राजा ने विस्मित हो कर पूछा—"भाई! अन्य मृग तो मुझे दूर ही से देख कर भाग जाते हैं, फिर तुम क्यों मृत्यु के लिये आत्म समर्पण कर रहे हो।"

मृग ने कहा—

अपुत्रोऽहं महाराज! वृथा जन्मप्रयोजनम्।
विचारयन्न पश्यामि प्राणानामिह धारणम्॥ १०॥

महाराज! मेरे पुत्र नहीं है, अतः मेरा जीवन व्यर्थ है, विचार करने पर मुझे प्राण रखने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इतने में एक दूसरा मृग आकर बोला—

राजन्! आप पुत्र की प्राप्ति के लिये पितृयज्ञ करने के निमित्त मृग का मांस चाहते हैं, सो इस अपुत्र को मारने से आपका लाभ न होगा। मुझ पुत्रवान् को मार कर अपने इष्ट का साधन कीजिये।

राजा ने जब इससे मृत्यु का वरण करने का कारण पूछा तब इसने कहा—"राजन्! मेरे सैकड़ों सन्तानें हैं, उनके पालन और जीवन की चिन्ता मुझे निरन्तर दुःखी बनाये रहती है। अतः मैं शरीर का त्याग कर सन्तान के दुःखों से मुक्त होना चाहता हूँ"।

पूर्व मृग ने कहा—"राजन्। यह धन्य है, इसके इतने पुत्र हैं, इसे मत मारिये, मुझ पापी अपुत्र को ही मारिये।"

दूसरे मृग ने पूर्व मृग से कहा—

एकदेहभवं यस्य दुःखं धन्यः स वै भवान्।
बहूनि यस्य देहानि तस्य दुःखान्यनेकधा॥ ३२॥

एको यदाऽहमासन्तु प्राक् तदा देहजं मम ।
दुःखमासीन्ममत्वे तु भार्यायास्तदभूद् द्विधा ।। ३३ ।।
यदा जातान्यपत्यानि तदा यावन्ति तानि वै ।
तावच्छरीरभूमीनि मम दुःखान्यथाभवन् ।। ३४ ।।

भाई ! ऐसा मत कहो । मैं धन्य नहीं हूँ, धन्य तो वस्तुतः तुम्हीं हो, क्योंकि तुम्हें केवल एक ही देह का दुःख है । जिसे जितने अधिक देहों में ममता होगी उसे उतना ही अधिक दुःख होगा ॥३२॥ जब मैं अकेला था तब मुझे एक ही देह का दुःख था । जब मुझे भार्या मिली तब मेरा दुःख दूना हो गया, क्योंकि उसके देह का दुःख भी मुझे व्यथित करने लगा ॥३३॥ और जब मेरे बहुत सी सन्तानें हो गईं तब उन सब शरीरों का भी दुःख मुझे घेरने लगा । फिर इतना अधिक दुःख भोगने वाला मैं कैसे धन्य हो सकता हूँ ? ॥३४॥

दोनों मृगों की उपर्युक्त बातें सुन कर राजा बड़ी दुविधा में पड़ा और निश्चय न कर सका कि पुत्र का न होना अच्छा है अथवा पुत्र का होना अच्छा है । विचार करने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पुत्रों से दुःख तो अवश्य है पर शास्त्रों का मत है कि पुत्रहीन को सद्गति नहीं प्राप्त होती, अतः पुत्र का होना तो आवश्यक है पर उसे किसी प्राणी की हिंसा करके प्राप्त करना उचित नहीं है किन्तु प्रचण्ड तपस्या के द्वारा ही उसे प्राप्त करना उचित है ॥

१२१ से १२८ तक अध्याय

तपस्या से पुत्र प्राप्त करने का संकल्प कर राजा खनीनेत्र गोमती नदी के तट पर इन्द्र को प्रसन्न करने के हेतु कठोर तप करने लगा । उसकी तपस्या से सन्तुष्ट हो इन्द्र ने उसे अति श्रेष्ठ पुत्र होने का वरदान दिया । फिर राजा अपनी राजधानी में आ धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । कुछ दिन बाद उसे पुत्र हुआ जिसका नाम बलाश्व रक्खा गया । पिता के बाद जब वह राज्यासन पर आरूढ़ हुआ तब उसने अपने बल-पौरुष से समस्त राजाओं को वश में कर उन्हें कर देने को विवश किया । इससे असन्तुष्ट हो सब राजा मिल गये और उस पर आक्रमण कर उसे विह्वल और विकल कर दिये । तब वह अपने मुख के सामने अपने हाथ मल कर शोक के निःश्वास

छोड़ने लगा। उस समय उसके श्वासानिल के आघात से उसकी अंगुलियों के बीच से अनगिनत शस्त्रधारी योद्धा प्रकट हुये। उनके सहयोग से उसने अपने शत्रुओं पर आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया। इस विजय से सम्पूर्ण राज-समाज ने उसका लोहा मान लिया और उसे कर देना स्वीकार कर लिया। कर मल कर योद्धाओं को प्रकट करने के कारण वह करन्धम नाम से विख्यात हुआ।

राजा वीर्यचन्द्र की पुत्री वीराने स्वयंवर में करन्धम का वरण किया और उससे करन्धम को एक बड़ा भाग्यशाली पुत्र पैदा हुआ। राजा ने ब्राह्मण-पुरोहितों की सम्मति से उसका नाम अवीक्षित रक्खा। वह समस्त वेद-वेदाङ्गों का पारदर्शी और सम्पूर्ण अस्त्रविद्याओं का उद्भट वेत्ता हुआ। धीरता, वीरता बुद्धि और कान्ति में कोई उसकी तुलना नहीं कर सकता था। एक बार वह वैदिश के राजा विशाल की पुत्री वैशालिनी के स्वयंवर में गया। वहाँ उस कन्या को बलात् उसने अपने वश में कर लिया। इस बात से सब राजाओं ने अपना अपमान माना और कहा कि—

क्षमतां ललनामेतामेकस्माद् बलशालिनाम्।
बहूनामेकवर्णानां जन्म धिग्वो महीभृताम्॥ २३॥
क्षत्रियो यः क्षतत्राणं वध्यमानस्य दुर्मदैः।
करोति तस्य तन्नाम वृथैवान्ये हि बिभ्रति॥ २४॥
बिभेति को न मरणात् को युद्धेन विनाऽमरः?।
विचिन्त्यैतन्न हातव्यं पौरुषं शस्त्रवृत्तिभिः॥ २५॥

हम बलवान् क्षत्रिय राजाओं के रहते यदि इस ललना का हरण हो जाता है और हम हरण करने वाले को क्षमा कर देते हैं तो हमारे जीवन को धिक्कार है॥२३॥ जो दुष्टों से पीड़ित होते हुये प्राणी का त्राण कर सके वही सच्चा क्षत्रिय है, जो ऐसा नहीं कर सकता उसका क्षत्रिय-नाम धारण करना व्यर्थ है॥२४॥ मृत्यु से किसे भय नहीं होता और युद्ध न करके कौन अमर हो जाता है? तो जब ऐसी बात है तो हम शस्त्रजीवी क्षत्रियों को पौरुष का परित्याग कदापि न करना चाहिये॥२५॥

इन परस्परकथनों से सब राजा उत्साहित हो शस्त्र लेकर उठ खड़े हुये और अवीक्षित को जा घेरे।

आक्रमणकारी राजों और राजकुमारों से अवीक्षित का बड़ा घोर युद्ध हुआ। जब अवीक्षित के बाणों की वर्षा से सारा राजवर्ग व्यथित एवं व्याकुल होगया तथा उनकी सेनायें त्रस्त हो पलायन करने लगीं तब सात सौ वीर क्षत्रियों ने मृत्यु की चिन्ता छोड़ कर चारो ओर से उसे घेर लिया और युद्ध के नियमो को तोड़ उसपर चारो ओर से अस्त्रप्रहार आरम्भ कर दिया। बहुत से वीरों के अधर्मपूर्वक युगपत् प्रहार का प्रतीकार न कर सकने के कारण वह भूमि पर गिर पड़ा। फिर राजाओं ने उसे बांधकर राजा विशाल के सामने ला खड़ा किया। राजा ने अपनी पुत्री को उपस्थित राजाओं में से किसी को चुनने का पुनः निर्देश किया किन्तु उनमें से उसने किसी को न चुना। फलतः राजा ने उस दिन को अच्छा न समझ ज्योतिषी विद्वानों की सम्मति से स्वयंवर तथा विवाह का कार्य कालान्तर के लिये स्थगित कर दिया।

जब राजा करन्धन को अपने पुत्र के बन्दी होने का समाचार मिला तब वह विचार करने लगा कि ऐसे समय क्या करना चाहिये? सामन्तों और राजाओं ने अपनी भिन्न भिन्न सम्मतियाँ दीं। कई लोगों ने राजकुमार के बलपूर्वक कन्या-हरण को अनुचित बताया। किन्तु रानी ने उन लोगों का विरोध करते हुये अपने पुत्र के कार्य को क्षत्रियोंचित बताया और युद्ध के लिये शीघ्र सन्नद्ध होने को उत्साहित किया। करन्धम ने विशाल सेना लेकर वैदिश को जा घेरा। राजा विशाल ने पहले तो युद्ध किया किन्तु बाद में हार मान कर अवीक्षित को मुक्त कर दिया और अर्घ्य के साथ करन्धम के सामने उपस्थित हो उसका पूजन किया तथा अवीक्षित से अपनी कन्या के पाणिग्रहण का प्रस्ताव किया। अवीक्षित ने यह कह कर प्रस्ताव को अमान्य कर दिया कि युद्ध में अन्य राजाओं ने मुझे पराजित कर दिया है अतः मैं इसे क्या, किसी स्त्री को ग्रहण न करूँगा और इसे तो कदापि न ग्रहण करूँगा क्योंकि इसने मेरी प्रत्यक्ष पराजय देखी है। यह सुन कर राजकन्या ने कहा कि मैं इनके सौन्दर्य और अद्भुत शौर्य से मुग्ध हूँ, जिसे ये अपनी पराजय समझते हैं वह मेरी दृष्टि में पराजय नहीं है, क्योंकि ये धर्मपूर्वक युद्ध कर रहे थे, दूसरे लोगों ने तो अधर्म युद्ध करके इन्हें विवश किया है। अतः मेरा निश्चय है कि मैं इन्हीं से विवाह करूँगी, दूसरा कोई मेरा पति नहीं हो सकता। विशाल ने पुनः प्रार्थना की और करन्धम ने भी समर्थन किया। किन्तु अवीक्षित ने नम्रता किन्तु अत्यन्त दृढता से पुनः अस्वीकार कर दिया।

अवीक्षित का निश्चय सुनकर राजकन्या भी किसी अन्य से विवाह न करने का निश्चय कर तपस्या करने जंगल चली गयी। तीन मास तक निराहार रह कर तपस्या करने के बाद जब वह अत्यन्त कृश हो गयी तब उसने देहत्याग करने का विचार किया। उसी समय एक देवदूत ने आकर कहा-"देवि! तुम्हारे तप के प्रभाव से तुम्हारे गर्भ से एक बड़ा वीर तेजस्वी, यशस्वी तथा, चन्द्रवर्ती पुत्र पैदा होनेवाला है अतः तुम देहत्याग करने का विचार छोड़ दो"। देवदूत के कथनानुसार उसने अपना विचार बदल दिया और अपने शरीर का पोषण आरम्भ कर दिया।

एक दिन अवीक्षित की माता वीरा ने उससे कहा—"पुत्र! मैं 'किमिच्छक' नाम का व्रत करना चाहती हूँ, इसके लिये तुम्हारे पिताकी अनुमति प्राप्त हो गई है, इसमें जोभी धन व्यय होगा उसे वे देंगे, शरीर का कष्ट मैं उठाऊगीं, यदि तुम भी अपना सहयोग प्रदान करो और प्रतिज्ञा करो कि जो कुछ भी कार्यभार तुम्हारे ऊपर पड़ेगा, तुम्हारी इच्छा हो वा न हो, तुम उसे अवश्य सँभालोगे तो मैं इस उत्तम व्रत को कर डालूँ"। पुत्र ने माता की व्रतेच्छा पूर्ण करने के लिये माता की इच्छा के अनुसार प्रतिज्ञा कर ली। माता ने व्रतारम्भ कर दिया। इधर राजा करन्धम के मन्त्रिगण राजा से निवेदन कर रहे थे—"राजन्! आप अब वृद्ध हो चले, राजकुमार ने विवाह नहीं किया, इसका परिणाम यह होगा कि आप दोनों के बाद आप का यह विशाल राज्य आप के शत्रुओं के हाथ पड़ जायगा और वंश की परम्परा समाप्त हो जाने से आप के पितरों का भी पतन हो जायगा। अतः आप राजकुमार को विवाह के लिये तैयार होने का कोई यत्न करें"। यह बात हो ही रही थी कि राजा के कान में उनके पुत्र की यह घोषणा सुनायी पड़ी कि "मेरी माता 'किमिच्छक' नाम का व्रत कर रही हैं' इस अवसर पर जो कुछ किसी को माँगना हो, मुझसे माँग ले। मेरे शरीर से जो भी सम्भव होगा, उसे मैं पूरा करूँगा"। यह सुन राजा करन्धम ने पुत्र के निकट जाकर कहा-"यदि तुम्हारी घोषणा सत्य है तो तुम मेरी माँग पूरी करो, मेरी माँग यह है कि तुम मुझे मेरे पौत्र का मुख दिखाओ"। माता के समक्ष की गयी प्रतिज्ञा तथा जनता के समक्ष की गयी घोषणा से विवश होकर राजकुमार बोला—"पिता जी! है तो यह कार्य मेरे लिये अति कठिन और मेरे अब तक के जीवन के विपरीत, फिर भी माता के व्रत की पूर्ति और सत्य की रक्षा के लिये मैं निर्लज्ज होकर विवाह करूँगा"।

एक दिन राजकुमार शिकार खेलने के लिये जङ्गल गया। वहाँ उसने किसी नारी का आर्तनाद सुना। वह विलाप करती हुई कह रही थी—"मैं महाराज करन्धम के पुत्र अवीक्षित की पत्नी हूँ, यह नीचे दानव मुझे हरकर ले जा रहा है"। उसकी बात सुनकर राजकुमार विचार करने लगा—"मैं तो आजन्म ब्रह्मचारी हूँ, फिर यह मेरी पत्नी कैसे हुई? अच्छा, यह बात तो बाद में सोची जायगी, अभी तो इसकी रक्षा करना आवश्यक है"। यह निश्चय कर उसने उस दानव पर आक्रमण किया, दोनों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में राजकुमार ने उसे मार डाला। उसके वध से प्रसन्न हो देवगण वहाँ उपस्थित हो गये और राजकुमार से कहे—"राजकुमार! दानव को मारकर जिस नारी का तुम ने उद्धार किया है वह राजा विशाल की कन्या और तुम्हारी भार्या है, इसके गर्भ से तुम्हें एक चक्रवर्ती पुत्र पैदा होगा"। देवगण के चले जाने के बाद नारी ने राजकुमार से कहा—"नाथ! जब आपने मेरा परित्याग कर दिया तब मैं घरबार छोड़कर तपस्या करने के लिये जंगल चली आयी। जब तपस्या करते करते मेरा शरीर सूख गया तब मैं इसे छोड़ देने को उद्यत हुयी। उसी समय एक देवदूत ने आकर कहा—"देवि! तुम्हारे शरीर से चक्रवर्ती पुत्र का जन्म होने वाला है अतः तुम उसका त्याग मत करो"। देवदूत की इस भविष्य वाणी पर विश्वास कर आप के दर्शन की आशा से मैंने शरीरत्याग का विचार छोड़ दिया"। राजकन्या की बात सुन कर राजकुमार को माता के 'किमिच्छक' व्रत के अवसर पर पिता को दिये गये अपने वचन का स्मरण हो आया, तब उसने राजकन्या से कहा—"देवि! पहले शत्रुओं से पराजित होने के कारण मैंने तुम्हारा त्याग किया था, अब तो शत्रु को मार कर मैंने तुम्हें प्राप्त किया है, तुम्हीं बताओ कि अब क्या करूँ"। इतने में मय नामक गन्धर्व अप्सराओं सहित आकर राजकुमार से कहा—"राजकुमार! यह कन्या वास्तव में मेरी पुत्री भामिनी है। महर्षि अगस्त्य के शाप से इसे राजा विशाल की पुत्री होना पड़ा। इसे अपनी पत्नी बनाकर इससे चक्रवर्ती पुत्र पैदा कीजिये"। यह सुन राजकुमार ने विधिवत् उसका पाणिग्रहण किया। थोड़े दिन बाद वैशालिनी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ। तदनन्तर राजकुमार अपनी पत्नी और शिशु के साथ अपने नगर गया और पिता को प्रणाम कर कहा—"पिता जी! मैंने माता जी के 'किमिच्छक' व्रत के अवसर पर जो प्रतिज्ञा की थी वह मैंने पूरी कर दी। लीजिये, अब आप अपने अङ्क में पौत्र का मुख देखिये"। यह कह राजकुमार ने पत्नी और पुत्र की प्राप्ति का सारा वृत्तान्त

राजा करन्धम को सुना दिया। इस समाचार से समूचे राज्य में हर्ष की लहर दौड़ गयी, राज्य भर में सर्वत्र उत्सव मनाये गये, राजा विशाल को भी यह शुभ समाचार सूचित कर दिया गया।

एक दिन राजा करन्धम ने अवीक्षित से कहा—"पुत्र ! अब मैं वृद्ध हुआ, तपस्या के हेतु अब मैं जंगल जाना चाहता हूँ। अतः राज्य-शासन का भार अपने हाथ में लेकर मुझे मुक्त करो"। यह सुन राजकुमार ने कहा—

नाहं तात ! करिष्यामि पृथिव्याः परिपालनम्।
नापैति ह्रीर्मे मनसो राज्येऽन्यं त्वं नियोजय॥ २२,अ० १२८॥
तातेन मोक्षितो बद्धो न स्ववीर्यादहं यतः।
ततः कियत्पौरुषं मे, पुरुषैः पाल्यते मही॥ २३, अ० १२८॥
पित्रोपात्तां श्रियं भुङ्क्ते पित्रा कृच्छ्रात् समुद्धृतः।
विज्ञायते च यः पित्रा, मानवः सोऽस्तु नो कुले॥ २८,अ० १२८॥
स्वयमर्जितवित्तानां ख्यातिं स्वयमुपेयुषाम्।
स्वयंनिस्तीर्णकृच्छ्राणां या गतिः, साऽस्तु मे गतिः॥ २६,अ० १२८॥

पिता जी ! मैं पृथ्वी का पालन नहीं करूँगा। मेरे मन से लज्जा नहीं जाती, आप राज्य-शासन के लिए दूसरे किसी को नियुक्त करें॥२२॥ जब राजाओं ने मुझे बन्दी बना लिया था तब आपने मुझे मुक्त किया था, मैं अपने पराक्रम से मुक्त न हो सका था। फिर मुझमें क्या पुरुषत्व है ? पुरुषत्व से युक्त मनुष्य ही पृथ्वी का पालक बनने का अधिकारी होता है॥२३॥ जो पिता से अर्जित सम्पत्ति का भोग करे, जो पिता द्वारा संकट से उबारा जाय तथा जो पिता के नाम से जाना जाय, कुल में ऐसा मनुष्य न होना चाहिये॥ २८॥ जो अपने बलपौरुष से सम्पत्ति और ख्याति का अर्जन करते तथा अपने पौरुष से संकटों को पार करते हैं, मैं उन जैसे लोगों की गति चाहता हूँ।

जब अवीक्षित ने अन्तिम रूप से राज्य लेना अस्वीकार कर दिया तब करन्धम ने उसके पुत्र मरुत्त को राज्यासन पर अभिषिक्त किया और स्वयं पत्नी को साथ ले तपस्या करने के निमित्त बन को प्रस्थान किया॥

१२९ से १३१ तक अध्याय

पिता की आज्ञा से पितामह का राज्य पाकर मरुत्त औरस पुत्रों के समान प्रजाजनों का धर्मपूर्वक पालन करने लगा। उसने बहुत से यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान किया। उसका राज्य सातो द्वीपों में फैला हुआ था। उसकी गति

आकाश, पाताल, जल आदि सभी स्थानों में अप्रतिहत थी। उसके राज्य में सब वर्णों के लोग निरालस्य हो अपने कर्त्तव्यपालन में संलग्न रहते थे। अङ्गिरा के पुत्र, बृहस्पति के भ्राता परम तपस्वी महात्मा संवर्त्त उसके पुरोहित थे। उसने मुञ्जवान् नामक स्वर्णपर्वत के शिखर को तोड़वा मँगाया था और उससे यज्ञ के भूभाग और भवन आदि सोने के बनवा डाले थे। ऋषिगण स्वाध्याय के समान उसके चरित्र का गान करते हुये कहा करते थे कि इस पृथ्वी पर मरुत्त के समान दूसरा यजमान ऐसा कौन हुआ कि जिसके यज्ञ में समस्त यज्ञमण्डप और महल सोने के बने हों और जिसके यज्ञों में देवगण सोमपान कर तथा ब्राह्मणगण दक्षिणा पाकर तृप्त हो गये हों और जिसके यज्ञों में इन्द्र आदि देवताओं ने ब्राह्मणों को भोजन परोसने का कार्य किया हो। मरुत्त के समान किस राजा के यज्ञ में ऐसा हुआ होगा कि रत्नों से घर भरे रहने के कारण ब्राह्मणों ने दक्षिणा में पाये हुये सुवर्णों को त्याग दिया हो और उन छोड़े हुये सुवर्णों को पाकर दूसरे वर्ण के लोग तृप्त हो गये हों तथा उनके द्वारा अपने यहाँ बड़े बड़े यज्ञ किये हों।

एक दिन एक तपस्वी ने आकर राजा मरुत्त को उसकी पितामही का यह सन्देश सुनाया—"राजन्! तुम्हारे पितामह स्वर्गवासी हो गये हैं, मैं और्व मुनि के आश्रम में रह कर तपस्या करती हूँ। मुझे तुम्हारे राज्य में बहुत बड़ी त्रुटि दिखायी देती है। पाताल से आकर सर्पों ने सात मुनिपुत्रों को डंस लिया है, जलाशयों को दूषित कर दिया है, अपने पसीने, मूत्र तथा मल से हविष्य को भी अपवित्र कर दिया है। यहाँ के महर्षि इन सर्पों को भस्म कर डालने की शक्ति रखते हैं पर वे ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें किसी को दण्ड देने का अधिकार नहीं है, वह अधिकार तो राजा होने के नाते केवल तुम्हीं को है। राजपुत्रों को भोगजनित सुख की प्राप्ति तभी तक होती है जब तक उनके मस्तक पर राज्याभिषेक का जल नहीं गिरता। कौन मित्र हैं? कौन शत्रु हैं? मेरे शत्रु का बल कितना है? मैं कौन हूँ? मेरे मन्त्री कौन हैं? कौन कौन से राजा मेरे पक्ष में हैं? वे मुझ से विरक्त हैं अथवा अनुरक्त? शत्रुओं ने उन्हें फोड़ तो नहीं लिया है? शत्रु पक्ष के लोगों की क्या स्थिति है? मेरे नगर अथवा राज्य में कौन मनुष्य श्रेष्ठ है? कौन धर्म-कर्म का आश्रय लेता है? कौन मूढ है? किसका बर्ताव उत्तम है? कौन दण्ड देने योग्य है और कौन पालन करने योग्य है? किन मनुष्यों पर मुझे सदा दृष्टि रखनी चाहिये?—इन सब बातों पर राजा को सदैव विचार करते रहना चाहिये। राजा के लिये

यह भी आवश्यक है कि वह सब ओर कई गुप्तचर लगाये रक्खे, और गुप्तचर एक दूसरे से परिचित न हों। उनके द्वारा यह जानने की चेष्टा करे कि कोई राजा अपने साथ की हुई सन्धि का भङ्ग तो नहीं कर रहा है। राजा अपने समस्त मन्त्रियों पर भी गुप्तचर रक्खे। राजा को चाहिये कि वह इन सब कार्यों में सदा मन लगाते हुये अपना समय व्यतीत करे न कि दिनरात विषयभोग में लिप्त रहे। राजाओं का शरीर भोग भोगने के लिये नहीं होता वह तो पृथ्वी तथा स्वधर्म के पालन के निमित्त क्लेश सहने के लिये होता है। पृथ्वी और स्वधर्म के पालन में राजा को जो कष्ट होता है उसी से उसे इस लोक में कीर्ति और परलोक में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। तुम इस बात को समझो और भोगों को त्याग कर पृथ्वी के पालन का कष्ट उठावो। तुम्हारे शासन-काल में ऋषियों को जो सर्पों से कष्ट हुआ है, उसे तुम नहीं जानते। इससे प्रतीत होता है कि तुम गुप्तचर रूपी नेत्र से अन्धे हो। अधिक कहने से क्या? तुम दुष्टों को दण्ड दो और सज्जनों का पालन करो। इससे तुम्हें प्रजा के धर्म का छठाँ भाग प्राप्त होगा। यदि तुम प्रजा की रक्षा न करोगे तो दुष्ट लोग उद्दण्ड होकर जो कुछ पाप करेंगे वह सब तुम्हीं को भोगना पड़ेगा। यह जान कर तुम जैसा चाहो वैसा करो"।

पितामही का यह सन्देश सुनकर राजा मरुत्त को बड़ी लज्जा हुई। अपनी असावधानी के लिये उसने अपने को धिक्कारा और धनुष-बाण लेकर तत्काल और्व के आश्रम पर पहुँचा। पितामही तथा ऋषिजनों को प्रणाम किया। सर्पों से डंसे मुनि-पुत्रों को देख अपनी निन्दा की और सर्पों का संहार करने की प्रतिज्ञा की। सर्पों का विनाश करने के लिये उसने संवर्तक नामक अस्त्र को उठाया। उस अस्त्र का प्रयोग होते ही सारा नागलोक जलने लगा। सारे नागवंश में हाहाकार मच गया। सर्पों ने पाताल को छोड़ पृथ्वी पर आ मरुत्त की माता भामिनी की शरण ली और उन्हें स्मरण दिलाया—"जब पाताल में हम लोगों ने आप का सत्कार किया था तब आप ने हमें अभयदान दिया था। सो अब उसके पालन का समय आ गया है। आप के पुत्र महाराज मरुत्त हम लोगों को अपने अस्त्रतेज से दग्ध कर रहे हैं। आप कृपा कर उनसे हमारी रक्षा करें"? भामिनी ने अपने वचन का स्मरण कर अपने पति से कहा—"स्वामिन्! मैं पहले ही आप को बता चुकी हूँ कि नागों ने पाताल में मेरा सत्कार करके मेरे पुत्र से प्राप्त होने वाले भय की चर्चा की थी और मैंने उनकी

रक्षा का वचन दिया था। आज वे मरुत्त के अस्त्रतेज से दग्ध हो रहे हैं और मेरी शरण में आ अपनी रक्षा की प्रार्थना कर रहे हैं। मैं उन सर्वों के साथ आप की शरण में उपस्थित हूँ, अब मेरी लाज आप के हाथ में है। यह निश्चित है कि आप का आदेश पाकर आप का पुत्र मरुत्त सर्पों का संहार बन्द कर देगा"। अवीक्षित ने कहा--"देवि। निश्चय ही किसी महान् अपराध पर ही तुम्हारा पुत्र कुपित हुआ होगा, अतः उसे शान्त करना कठिन है। फिर भी तुम्हारी बात मान कर मैं शरणागत सर्पों की रक्षा करूँगा और समझाने बुझाने से यदि मरुत्त शान्त न होगा तो अस्त्र से उसे शान्त करूँगा"। यह कह कर अवीक्षित अपनी पत्नी को साथ ले और्व मुनि के आश्रम पर पहुँचा और अपने पुत्र को क्रोध से रक्त तथा भयानक अस्त्रतेज से सर्पों को दग्ध करते देख बोले—"पुत्र क्रोध न करो, अपने अस्त्र को लौटा लो"। मरुत्त ने माता-पिता को प्रणाम कर उत्तर दिया—"पिता जी! सर्पों ने मेरे शासन और शौर्य का अपमान कर भारी अपराध किया है, ऋषियों के आश्रम में घुस कर सात मुनि-पुत्रों को डंस लिया है, दुष्टों ने यहाँ के जलाशयों और हविष्य को दूषित कर दिया है, अतः इन दुष्टों के वध से आप मुझे विरत न करें"। अवीक्षित ने कहा--"राजन्! ये सर्प मेरे शरणागत हैं, अतः मेरे गौरव को ध्यान में रख कर तुम अपने अस्त्र को लौटा लो"। मरुत्त ने कहा—"पिता जी! ये दुष्ट और. अपराधी हैं, मैं इन्हें क्षमा नहीं कर सकता, जो राजा दुष्टों को दण्ड देता और सज्जनों का पालन करता है वह पुण्य लोकों को प्राप्त करता है और जो अपने इस कर्तव्य की उपेक्षा करता है वह नरकगामी होता है"। अवीक्षित ने कहा—"ये सर्प त्रस्त होकर मेरी शरण में आये हैं, शरणागत कोई भी हो, उसकी रक्षा करना महान् धर्म है। मैं इनकी हिंसा बन्द करने को तुमसे बार बार कह रहा हूँ. पर तुम नहीं सुन रहे हो, अतः मुझे तुम्हारे विरुद्ध अस्त्र उठाना होगा"। यह कह कर अवीक्षित ने मरुत्त पर कालास्त्र नामक महा-भयंकर अस्त्र का सन्धान किया। मरुत्त ने "दुष्टों का दमन कर प्रजा का पालन करना" इस राजकर्तव्य को प्रधान मान पिता की उपेक्षा कर दी और अवीक्षित ने शरणागत पालन जैसे महान् कर्तव्य को प्रधानता दे पुत्र की उपेक्षा कर दी और इस प्रकार अपने अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये दोनों एक दूसरे का वध करने को उद्यत हो गये। इस बात को देख भार्गव आदि मुनि बीच में आ पड़े और बोले—"नाग लोग कह रहें हैं कि दुष्ट सर्पों ने जिन मुनि पुत्रों को डंस लिया है उन्हें वे जीवित कर देंगे और ऐसी व्यवस्था कर देंगे जिससे

ऐसे अपराध की कभी पुनरावृत्ति न होगी अतः उनका संहार न होना चाहिये। अब हमारी सम्मति है कि आप लोग युद्ध न करें क्योंकि नागों का प्रस्ताव मान लेने से आप दोनों के कर्त्तव्यों का पालन हो जाता है"। अवीक्षित की माता, मरुत्त की पितामही, तपस्विनी वीरा ने भी इसका समर्थन किया। फलतः नागों ने विषहर औषधियों का प्रयोग कर मुनिपुत्रों को जीवित कर दिया, मुनिगण प्रसन्न हो गये। नागलोक का त्राण हुआ। वीरा और भामिनी हर्षित हो उठीं। मरुत्त ने प्रसन्न हो माता-पिता को प्रणाम किया। अवीक्षित ने प्रमुदित हो उसे भूरि भूरि आशीर्वाद दिया। सब लोग प्रसन्न हो यथा स्थान चले गये।

एक सौ बत्तीसवां अध्याय

राजा मरुत्त ने अपने अठारह पुत्रों में सबसे जेष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र नरिष्यन्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया और स्वयं तपस्या के निमित्त वन को प्रस्थान किया। राजा नरिष्यन्त ने सोचा--"ऐसा कौन सा उत्तम कार्य है जिसे मेरे पिता तथा पूर्वजों ने नहीं किया है। सभी उत्तम कर्म वे कर डाले हैं। ऐसी स्थिति में उन्हीं कर्मों को करने में न तो कोई नवीनता होगी और न उतने से पूर्वजों को अपने वंश में कोई नया उत्कर्ष देख कर प्रसन्नता ही होगी। अतः उचित यह होगा कि जिन कर्मों को उन लोगों ने सकाम भावना से किया है उन्हीं को मैं निष्काम भावना से करूँ, उन लोगों ने बड़े बड़े यज्ञ स्वयं किये थे, मैं ऐसा करूँ कि दूसरे लोग भी बड़े बड़े यज्ञ कर सकें"। यह निश्चय कर उसने एक ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान किया जैसा उसके पूर्व किसी ने नहीं किया था। उस यज्ञ में उसने ब्राह्मणों को इतना अधिक धन दिया कि उन्हें फिर धन लेने की आवश्यकता ही न रह गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने जब दूसरी बार यज्ञ करने का आयोजन करना चाहा तब यज्ञ कर्म के लिये उसे कोई ब्राह्मण ही न मिला। राजा ने ब्राह्मणों के घर जाकर उन्हें दान देना चाहा पर राजा के पूर्व दिये हुये धन से ही घर भरे रहने के कारण लोगों ने दान लेना अस्वीकार कर दिया। उस समय राजा ने कहा--"यह कितनी उत्तम बात है कि इस समय पृथ्वी पर कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं है जिसे धन की कमी हो, पर यह तो अच्छा नहीं है कि धनबाहुल्य के कारण ब्राह्मणों का सहयोग न प्राप्त होने से यज्ञ का होना ही बन्द हो जाय"। अतः उसने विशेष प्रार्थना कर कुछ

ब्राह्मणों को ऋत्विज् बनाया और एक बहुत बड़े यज्ञ का आरम्भ किया। इस यज्ञ का आरम्भ होते ही भूमण्डल के समस्त ब्राह्मणों ने भी राजा से प्राप्त किये हुये धन से अपने अपने यहाँ यज्ञों का आरम्भ किया। राजा के इस यज्ञ के साथ पूर्व में अठारह करोड़, पश्चिम में सात करोड़, दक्षिण में चौदह करोड़ और उत्तर में पन्द्रह करोड़ यज्ञ सम्पन्न हुये। इस प्रकार मरूत्तपुत्र नरिष्यन्त बड़ा धर्मात्मा तथा अपने बल और पौरुष से अत्यन्त विख्यात राजा हुआ।

एक सौ तैंतीसवां अध्याय

बभ्रु की कन्या इन्द्रसेना नरिष्यन्त की पत्नी थी, उसके गर्भ से राजा को एक पुत्र हुआ। जिसका नाम राजा के त्रिकालज्ञ पुरोहित ने दम रक्खा। यह पुत्र माता के गर्भ में नव वर्ष तक रहा, इसमें इन्द्र के समान बल, और मुनियों के समान दया और शील था। आन्तर और बाह्य शत्रुओं का दमन करने की शक्ति रखने के कारण इसका दम नाम अन्वर्थ था। उसने दैत्यराज वृषपर्वा से धनुर्वेद की शिक्षा ली तथा दैत्यराज दुन्दुभि से सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्त किये। महर्षि शक्ति से समस्त वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन किया तथा राजर्षि आर्ष्टिषेण से योगविद्या प्राप्त की। उसके शौर्य, सौन्दर्य और अन्यान्य उत्तम गुणों के कारण दशार्ण के राजा चारुवर्मा की पुत्री राजकुमारी सुमना ने स्वयंवर में उसे अपना पति चुना। मद्र प्रदेश का राजकुमार महानन्द, विदर्भ का राजकुमार वपुष्मान् तथा उदारचेता राजकुमार महाधनु—ये तीनों बड़े पराक्रमी तथा अस्त्रविद्या में निपुण थे। ये तीनों राजकुमारी सुमना में आकृष्ट थे। इन्होंने परस्पर में विचार किया—"हम तीनों मिलकर दम से सुमना को बलपूर्वक छीन कर घर ले चलें। वहाँ वह हम तीनों में से जिसको चुनेगी वह उसी की पत्नी होगी। यदि वह स्वयं हम में से किसी को न चुनेगी तो हम में से जो दम का वध करेगा वह उसकी पत्नी होगी"। यह निश्चय कर तीनों राजकुमारों ने दम के पास खड़ी हुई कुमारी को पकड़ लिया। यह देख दम के सहयोगी राजाओं ने बड़ा कोलाहल मचाया। किन्तु इस घटना से दम के मन में तनिक भी चिन्ता न हुयी। उसने राजाओं से पूछा—"स्वयंवर अधर्म है अथवा धर्म? यदि अधर्म हो तब तो मुझे कुछ नहीं करना है, भले ही यह दूसरे की पत्नी हो जाय। किन्तु यदि वह धर्म है तब तो यह मेरी हो चुकी और तब मैं अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी इसकी रक्षा करूँगा" दशार्णनरेश चारुवर्मा ने दम के उठाये हुये प्रश्न के सम्बन्ध में राजाओं के उत्तर की अभ्यर्थना की। राजाओं ने कहा—"स्वयंवर धर्म है।

राजकुमारी स्वयंवरण द्वारा दम की पत्नी हो चुकी, जो मोहवश इसके विपरीत आचरण करता है, वह कामासक्त है, अन्यायी है"। यह सुन कर दम अत्यन्त कुपित हो गया और अपनी नव पत्नी की रक्षा करने की प्रतिज्ञा कर विपक्षियों पर बाणों की वर्षा करने लगा। महानन्द और वपुष्मान् ने उससे साक्षात् मुठभेड़ की। उनके साथ बड़ी देर तक युद्ध किया। अन्त में वेतसपत्र नामक बाण से महानन्द का तो मस्तक काट डाला और वपुष्मान् को बाणों से बींध कर पृथ्वी पर गिरा दिया। पृथ्वी पर गिरते ही वह व्याकुल हो थर थर काँपने लगा तथा पुनः युद्ध न करने का निश्चय प्रकट किया। तब दम ने उसे जीवित ही छोड़ दिया और प्रसन्नतापूर्वक सुमना को अपने साथ कर लिया। चारुवर्मा ने उन दोनों का विधिवत् विवाह कर दिया। दम दशार्ण नरेश से विदा लेकर अपनी पत्नी के साथ घर लौटा और माता-पिता को प्रणाम कर सारा वृत्तान्त कह सुनाया। दशार्णनरेश को सम्बन्धी तथा अनेक राजाओं को अपने पुत्र से पराजित सुन कर नरिष्यन्त को बड़ी प्रसन्नता हुयी। कुछ समय बाद सुमना ने गर्भ धारण किया और नरिष्यन्त ने अपनी वृद्धावस्था को देख दम को राज्य दे अपनी पत्नी इन्द्रसेना के साथ तपस्या करने के लिये वन को प्रस्थान किया।

एक सौ चौंतीसवां अध्याय

एक दिन की बात है, नरिष्यन्त अपनी पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में रह कर तपस्या कर रहा था, उसी समय संक्रन्दन का दुराचारी पुत्र वपुष्मान् थोड़ी सी सेना के साथ शिकार खेलने वहाँ पहुँचा। इन्द्रसेना से नरिष्यन्त का परिचय प्राप्त कर वपुष्मान् ने कहा—"यह मेरे शत्रु दम का पिता है, उसने युद्ध में मुझे परास्त कर मेरी सुमना को ले लिया है, अतः इसे मारकर मैं उस वैर का बदला चुकाना चाहता हूँ, अब आकर वह अपने पिता की रक्षा करे"। उसका यह क्रूर वचन सुनकर इन्द्रसेना रोने लगी, उस दुष्ट ने नरिष्यन्त का वध कर दिया। उसके चले जाने पर इन्द्रसेना ने दम के पास एक शूद्र तपस्वी से यह सन्देश भेजा—"संक्रन्दन के पुत्र वपुष्मान् ने तुम्हारी शत्रुता के कारण तुम्हारे निरपराध तपस्वी पिता को मार डाला है, इस सम्बन्ध में तपस्विनी होने के नाते मुझे कुछ नहीं कहना है, तुम अपने नीतिविद् मन्त्रियों से परामर्श कर जो उचित हो वह करो। विदूरथ ने एक यवन के हाथ अपने पिता का वध सुन कर सारे यवन कुल का नाश कर दिया था।

असुरराज जम्भ ने अपने पिता को साँपों से डंसे जाने का समाचार सुन कर समस्त सर्पों का विनाश कर दिया था। पराशर ने एक राक्षस के हाथ अपने पिता की मृत्यु होने की बात सुन कर सम्पूर्ण राक्षसों को अग्नि में झोंक कर भस्म कर दिया था। क्षत्रिय तो अपने वंश के साधारण व्यक्ति के छोटे से अपमान को भी नहीं सह पाते, फिर पिता का वध करने जैसे महत्तम अपराध को वे कैसे सह सकते हैं? मेरी दृष्टि में यह तुम्हारे पिता का वध नहीं किन्तु तुम्हारा ही वध है। ऐसी स्थिति में वपुष्मान के परिजनों और कौटुम्बिकों के प्रति तथा स्वयं उसके प्रति जो तुम्हारा कर्तव्य हो उसे तुम तत्काल करो"।

एक सौ पैंतीसवां अध्याय

दम इस सन्देश को सुन क्रोध से जल उठा और उसने अपने तपस्वी पिता के हत्यारे वपुष्मान् तथा उसके स्वजनों एवं सहायकों का वध करने की प्रतिज्ञा की। उसने निश्चय किया कि वपुष्मान् की ओर से यदि इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर अथवा सूर्य भी युद्ध में उपस्थित होंगे तो वह उन्हें भी अपने तीक्ष्ण बाणों से मार गिरायेगा।

एक सौ छत्तीसवां अध्याय

उपर्युक्त प्रतिज्ञा कर दम ने अपने मन्त्रियों तथा पुरोहित से कहा—शूद्र तपस्वी के मुख से माता का सन्देश आप लोगों ने सुन लिया। अब युद्ध के लिये आप समस्त उपकरणों सहित सेना को तयार कीजिये। पिता के वैर का बदला लिये विना, पिता के हत्यारे को मारे विना और माता की आज्ञा को पूर्ण किये विना मैं एक क्षण भी जीना नहीं चाहता"। मन्त्रियों ने तत्काल ही सेना तयार कर दी और दम ने ब्राह्मण-पुरोहितों का आशीर्वाद ले सुविशाल सेना के साथ वपुष्मान् का विनाश करने की कामना से प्रस्थान किया। वपुष्मान् के राज्य में पहुँच कर दम ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वपुष्मान् भी बहुत बड़ी सेना लेकर दम का सामना करने आगे बढ़ा। दोनों सेनाओं, दोनों सेनावों के सेनापतियों तथा दोनों नायकों में घोरतम युद्ध होने लगा। युद्ध की भयंकरता से सारी पृथ्वी काँप उठी। दम ने पहले वपुष्मान् के पुत्रों, भाइयों, सम्बन्धियों और मित्रों को मारा और बाद में उसे पृथ्वी पर पटक कर उसके शिर को पैर के नीचे दबा उसकी छाती चीर डाली। उसके वक्षःस्थल से

निकली हुई रुधिर धारा से तर्पण और उसके माँस से पिण्डदान कर दम ने अपने दिवंगत पिता से आनृण्य प्राप्त किया।

एक सौ सैंतीसवां अध्याय

आरम्भ में मार्कण्डेय पुराण में वर्णित विषयों का उपसंहार करते हुये यह बताया गया है कि इन विषयों के श्रवण और पठन से समस्त पापों की निवृत्ति तथा ब्रह्मलीनता की प्राप्ति होती है। तदनन्तर अठारह पुराणों के नाम बता कर कहा गया है कि इन नामों का त्रिकाल जप करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। तत्पश्चात् मार्कण्डेय पुराण के श्रवण की विधि, दक्षिणा और उससे प्राप्त होने वाले अनेक महाफलों को बता कर यह निर्देश किया गया है कि नास्तिकों, दुराचारियों और कुकर्मियों को इस पुराण का श्रवण कदापि न कराना चाहिये।

———